का वर्णन ऋ० १०।९२।१४ ने नायक-नायिका के रूप में किया है। हम मधुमान् नक्त, उषा और सूर्य के आकांक्षी थे (ऋ० १।९०।७, ८)। इस सबसे पता चलता है कि कितना रस लेते हम ज्योतिर्जगत् में—वही हमारे देववृंद का निवास था। ऐसी भावना में एक समग्र पंचांग का विकास स्वाभाविक है।

प्राचीन भारतीय पंचांग के प्रायः सभी मुख्य अवयव ऋ० ६।३८।४ में कथित हैं—

वर्धाहिनमुषसो यामक्तो वर्धान् मासाः शरदो.....।

[उषाएँ, दिवारात्र, मास और वर्ष हमारी बढ़ती करनेवाले हों.. ..।]

दिन

दिन के लिये सबसे स्पष्ट एवं प्रत्यक्ष मान एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय तक साठ घड़ी (= चौबीस घंटे) में पूरा होनेवाला अहोरात्र है जिसका दैनंदिन अनुभव सभी को अहरहः सूर्योदय के कारण हुआ करता है। वैदिक काल में इसी प्रकार का दिन माना जाता—उषःकाल के उपरांत सूर्योदय हुआ कि दिन आरंभ हुआ। इस अहोरात्र का नाम *सावन* दिन है। सवन का अर्थ है यज्ञ। यज्ञ की प्रवृत्ति सूर्योदय से ही होने के कारण यह नाम पड़ा है।

मास

जिस प्रकार सूर्योदय-सूर्यास्त से दिन-रात मूर्त होता है उसी प्रकार शुक्ल द्वितीया को निकलनेवाली तन्वी चंद्रलेखा की, अनुदिन एक एक कला बढ़कर, षोडश-कला-पूर्ण पार्वण चंद्र में परिणति, फिर नित्य छीजती अमा की तमिस्रा में परिणति वाला चक्र चांद्र मास का मूल निर्माता है। महीना मूलतः चांद्र है, यह इसी से स्पष्ट है कि इसका वाचक 'मास' शब्द चंद्रवाची ही है। इसका ईरानी प्रतिरूप 'माह' भी यह उभय अर्थ रखता है। इस प्रकार चांद्र मास की प्राचीनता उस समय की है जब भारतीय और ईरानी आर्य भाषाएँ एक थीं।

किसी बदी पड़िवा से उसके आगेवाली पूर्णिमा तक वा किसी सुदी पड़िवा से उसके आगेवाली अमावास्या तक मध्यमान (औसत) से सावयव (भिन्न सहित)

ये सभी गौड़ और पश्चिमोत्तर वाचना सम्मत हैं, अतः उनके निर्देश नहीं दिए गए। केवल दो अवतरण गौड़ वाचना के हैं। उनके लिये गौ० संकेत है। गौड़ वाचना के ये अवतरण प्रसिद्ध गोरेसियो संस्करण से हैं। कांडों का हवाला कांड शब्द छोड़कर केवल उनके नाम से दिया गया है। यथा किष्किंधा०=किष्किंधा कांड।

२९ *सावन* दिन बीतते हैं। इस काल को एक चांद्र मास कहते हैं। पहले क्रम वाले महीने को कृष्णाद्य वा पूर्णिमांत कहते हैं और दूसरे क्रम वाले को शुक्लाद्य वा अमांत। कृष्णाद्य और शुक्लाद्य दोनों का शुक्ल पक्ष एक पड़ता है; अंतर केवल कृष्ण पक्ष का रहता है। शुक्लाद्य में पूर्णिमा-परवर्ती कृष्ण पक्ष (अमांत होने के कारण) उसी महीने का होता है। कृष्णाद्य में (पूर्णिमांत के कारण) वह स्वभावतः अगले महीने में चला जाता है।

उन दिनों संभवतः चांद्र मास का क्रम कृष्णाद्य था। ऋ० में कृष्ण (काले) और अर्जुन अहः की अर्थात् अँधेरे और उजेले पाख की चर्चा है—अहश्च कृष्ण-महर्जुनञ्च (ऋ० ६।९।१)। यह अनुक्रम छंद के अनुरोध से नहीं, कृष्णाद्य मास के अनुसार है क्योंकि, ऋ० ६।३९।३ में अनुक्रम से प्रातश्चंद्र और सायंचंद्र का उल्लेख है, जो पहले कृष्ण पक्ष तब शुक्ल पक्ष की मान्यता का द्योतक है। कृष्ण पक्ष का चंद्र जब भी उगे, प्रभात में अवश्य रहता है; इसी प्रकार शुक्ल पक्ष का चंद्रमा संध्या में अवश्य रहता है। इन प्रमाणों से संभावित है कि उस समय पूर्णिमांत मास चलते थे। पखवारे को उन दिनों पर्व कहते थे (ऋ० १।९४।४)।

अनेक कृत्य चांद्र मास से संबंधित थे। अमावास्या को दर्श और पूर्णिमा को पौर्णमास सवन हुआ करते। पार्वण श्राद्ध पूर्णिमा से संबद्ध था।

वर्ष

मास के समान वर्ष का इतिहास भी उसके अपने नाम में निहित है। वर्ष शब्द मूलतः वर्षा ऋतु का वाचक है। ऋतुओं की वर्तना—'शिशिर वसंतौ पुनरायातौ'—वर्ष की परिकल्पना का मूल है। प्रति वर्ष छः ऋतुएँ बरता करती हैं। इन छः ऋतुओं का उल्लेख ऋ० में ठौर ठौर है।[२] हेमंत और शिशिर को एक शीत ऋतु मानकर केवल पाँच ऋतुएँ भी लेखी जातीं। ये दोनों मान्यताएँ—छः ऋतु और पाँच ऋतु वाली—साथ-साथ चलतीं; ऐसा नहीं कि इनमें से एक अपेक्षाकृत पुरानी हो। दूसरे शब्दों में, पाँच ऋतु वाली मान्यता वैकल्पिक थी।[3] एक ठिकाने केवल तीन ऋतुओं (जाड़ा, गरमी, बरसात) का रूपकमय वर्णन है।[४]

२—ऋ० १।२३।१५; १।१६४।१५ तथा आगेवाले ऋतुसंबंधी अवतरण।

३—ऋ० १।१६४।१२,१३; ३।५५।१८

४—ऋ० १।१६४।४८

अपने यहाँ ३०, ३० दिनों के दो दो मासों की भुक्तिवाली छः ऋतुओं के आवर्त का ३६० दिनोंवाला वत्सर चलता था।[५] अपने ये ऋतव वर्ष बहुत पुरानी कल्पना हैं। वैदिक साहित्य में वर्ष के अतिरिक्त अब्दवाचक शरत् और हिम वा हेमंत भी ऋतु-वाचक हैं, उन-उन ऋतुओं से वर्ष चलने के कारण। इस संबंध में यह बात भी लक्ष्य है कि ऋतुचक्र वाला वर्ष भारत में ही संभव है, अन्यत्र नहीं; अन्यत्र छः ऋतुओं का ऐसा आवर्त नहीं होता।

३६० *सावन* दिनोंवाले इस ऋतव वर्ष से कुछ कम, सावयव ३५४ *सावन* दिनों में बारह पूर्णिमाएँ पड़तीं। इत्थं बारह मासों का चांद्र वर्ष बना। इसी से ऋ० १०।८५।५ में चंद्रमा वर्षों का निर्माता कहा गया है। किंतु छः दिनों की छोटाई के कारण वह ऋतव वर्ष से पिछड़ा करता। इन दोनों का सामंजस्य तभी संभव है जब इनका वार्षिक अंतर दूर किया जाता रहे। अन्यथा प्रत्येक चांद्र मास छहों ऋतुओं में घूमा करेगा, जैसा अरब पंचांग में होता है। ऐसा अंतर दूर करने के लिये अपने यहाँ चांद्र वर्ष में अधिमास डाला जाता। इसकी चर्चा ऋ० के एक मंत्र में इस प्रकार है—

वेद मासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावतः। वेदा य उपजायते।[६]

—ऋ० १।२५।८

कहने की आवश्यकता नहीं कि इस मंत्र में मास शब्द और उसकी संख्या बारह होने के कारण चांद्र मास और उसका अधिमास अभिप्रेत है। यह बात भी निरीक्ष्य है कि यह मंत्र वरुणदैवत है, अर्थात् ऋ० के बहुत पुराने स्तर का।

वस्तुतः तत्कालीन ऋतव वर्ष भी अपने वास्तविक मान से किंचित् न्यून था। ऋतुओं का आवर्त सूर्य के सावयव ३६५ *सावन* दिनोंवाले वार्षिक आवर्त (जिसे सौर वर्ष कहते हैं) के साथ पूरा होने के कारण ऋतव वर्ष में प्रतिवर्ष सावयव पाँच *सावन* दिनों का अंतर पड़ जाता। जब उन्होंने सूर्य की गति भी लक्ष्य की (क्योंकि उनके कर्मकांड में इसकी आवश्यकता पड़ती। उत्तरायण सूर्य

५—ऋ० १।१६४।११; १।१६४।४८

६—वह धृतव्रत (=वरुण) प्रजावान् (=प्रजननशील) बारह महीनों को जानता है और उस महीने (अर्थात् अधिमास) को भी जानता है जो (इस प्रजननशील बारह-मासी से) उपजा करता है।

देवकार्य के लिये और दक्षिणायन पितृकार्य के लिये विहित था। वर्ष में दो बार आनेवाले विषुव दिवस का वर्ष-सत्र में विशेष महत्त्व है। उस दिन सूर्य ठीक पूर्व में उगता है और दिन-रात बराबर होते हैं। अनेक कृत्यों में मास, ऋतु और अयन का युगपत् बंधन है) तब उन्हें यह अंतर ज्ञात हुआ और उन्होंने इसका परिशोधन किया। प्रति पाँचवें वर्ष एक अतिरिक्त मास जोड़कर ऋतव और सौर वर्षों का अंतर मिटाया जाता। ऋतुमासों का जोड़ा मानने के कारण वे उन्हें छः जुड़ले महीने और इसे सातवाँ अकेला कहते।[७] ऋतुमासों के नाम कृष्ण० और शुक्ल० दोनों में प्राप्त हैं।[८]

अधिमास[९]

जिस प्रकार ऋतव अधिमास पाँचवें वर्ष जुड़ता उसी प्रकार चांद्र अधिमास तीसरे वर्ष। अधिमास वाले वर्ष तेरह महीनों के होते। चांद्र और ऋतव दोनों

७—ऋ० १।१६४।१२,१५

८—ऋतुमासों के नाम इस प्रकार हैं—मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतू शुक्रश्च शुचिश्च ग्रैष्मावृतू नभश्च नभस्यश्च वार्षिकावृतू इषश्चोर्जश्च शारदावृतू सहश्च सहस्यश्च हैमन्तिकावृतू तपश्च तपस्यश्च शैशिरावृतू अग्नेरन्तश्लेषोऽसि कल्पेताम् (कृष्ण० ४।४।११), ये नाम इसी अनुक्रम में शुक्ल० १४।६।१ तथा उसके आगे वाले मंत्रों में आए हैं।

मधु = चैत्र, माधव=वैशाख, शुक्र = ज्येष्ठ, शुचि = आषाढ, नभ = श्रावण, नभस्य = भाद्र, इष = आश्विन, ऊर्ज = कार्तिक, सह = मार्गशीर्ष, सहस्य = पौष, तप=माघ, तपस्य = फाल्गुन।

९—इस अधिमास प्रकरण तथा आगे युग और क्षय मास प्रकरण की सामग्री का आधार लगध० है जिसका रचनाकाल तिलक तथा दीक्षित ने ई० पू० चौदहवीं शती निर्धारित किया है और पाश्चात्य विद्वानों ने ई० पू० बारहवीं शती। यह रचना दो संस्करणों में प्राप्त है ऋ० का आर्च ज्योतिष वेदांग और यजु० का याजुष ज्योतिष वेदांग। दोनों में अंतर यह है कि आर्च से याजुष में तेरह श्लोक अधिक, कुल उंचास श्लोक हैं। ग्रंथ अत्यंत दुरूह है; उसके उन्हीं अंशों का अवलंब लिया गया है जो स्पष्ट एवं निर्विवाद हैं। उस समय जो वैदिक परंपरा चली आ रही थी उसी को संचित करके यह शास्त्र का रूप दिया गया है। लगध० के ही शब्दों में—'यज्ञ कालानुपूर्व विहित हैं, इसी कारण यह काल-विधान शास्त्र है'—'कालानुपूर्वा विहितादच यज्ञाः तस्मात् इदं काल-विधान-शास्त्रम्'।

उन दिनों ज्योतिष की ओर विशेष ध्यान था। छांदोग्य० ७।१।२ में चौदह विद्याओं के अंतर्गत ज्योतिष विद्या और नक्षत्र विद्या भी हैं।

अधिमासों को मिलाकर कृष्ण० कांड १ प्रपाठक १४ में चौदह मास-देवता माने गए हैं। शुक्ल० (२२।३०, ३१) से इन दोनों महीनों के नाम भी प्राप्त हैं—अंहसस्पति और मलिम्लुच। इन्हीं के साथ एक पंद्रहवें क्षय मास का नाम भी दिया है—संसर्प। इसकी उपयोगिता हम अभी देखेंगे।

इस प्रकार ऋतव वर्ष का पाँचवाँ वत्सर ३९० *सावन* दिनों का होता, फलतः उसका औसत ३६६ दिनों का पड़ता। इसी मानदंड से तीसरे तीसरे वर्ष अधिमास डालकर चांद्र वर्ष भी औसत ३६६ *सावन* दिनों का कर दिया गया। इन दोनों वर्षों के अनुसार सौर वर्ष भी सावयव ३६५ *सावन* दिनों के बदले ३६६ दिनों का कायम किया गया।

निदान प्रति पाँच वर्ष पर ऋतव, चांद्र और सौर तीनों ही वर्ष बराबर हो जाते—

	वर्ष-दिन	वर्ष		अधिमास दिन	
१. ऋतव वर्ष—	३६० ×	५	+	३०	= १८३० दिन
२. चांद्र वर्ष—	३५४ ×	५	+	६० (३० + ३०)	= १८३० दिन
३. सौर वर्ष—	३६६ ×	५			= १८३० दिन

युग और क्षय मास

उन्होंने इस योग की इकाई लेखी, फलतः पाँच वर्ष वाले युग नियत किए। ऐसे युग-वर्ती पाँच वर्षों के नाम अलग अलग थे—१. संवत्सर, २. परिवत्सर, ३. इदावत्सर, ४. इदुवत्सर और ५ वत्सर।[१०]

किंतु इस प्रकार सौर वर्ष में प्रति वत्सर जो बढ़त पड़ती उसका परिशोधन साठ वर्षों में, बारह युगों की एक आवर्त-पूर्ति पर एक मास निकाल कर किया जाता। इसी कारण अथर्व० ५।६।४ में इसे सनिस्रस अर्थात् सटकनेवाला कहा है। यह क्षय मास ऋतव और चांद्र अधिमासों वाले अतिरिक्त दिनों का भी मार्जन कर देता। इस प्रकार बीच बीच में नियत अंतरों पर ऋतव एवं चांद्र अधिमास द्वारा और साठ वर्ष पर क्षय मास द्वारा तीनों वत्सर-चक्रों का डाँड़ चूल में कसा रहता और अवांतर काल में भी उनमें एक मास से अधिक अंतर न पड़ता। इसी क्रम को विलोम करके बारह बारह बरस वाला युग-मान चला दीखता है।

१०—कृष्ण० ५।५।७।३।४; शुक्ल० २७।४५—इसमें इदुवत्सर के स्थान पर इद्वत्सर है।

नक्षत्र

हम देख आए हैं कि सावयव २९ सावन दिनों में चंद्रमा आकाश का एक चक्कर पूरा करता दीखता है। इसे चांद्र मार्ग कहते हैं। इस चांद्र मार्ग को सत्ताईस भागों में बाँटकर प्रत्येक भाग के निकटस्थ तारा वा तारासमूह को नक्षत्र कहते हैं। इनके अलग अलग सत्ताईस नाम हैं। उत्तराषाढा और श्रवण नक्षत्रों के बीच अभिजित् नामक नक्षत्र की कल्पना से इनकी संख्या अट्ठाईस हो जाती है।

पहले ऐसा अनुमान था कि नक्षत्र-ज्ञान के लिये हम ईराक की दजला-फरात काँठोंवाली संस्कृतियों के ऋणी हैं। किंतु इधर की खोजों से बात उलटी सिद्ध हुई। नक्षत्र ज्ञान के लिये उक्त संस्कृतियाँ ही आर्यों की ऋणी हैं। हमारे नक्षत्र-वाचक वैदिक शब्द स्तृ (ऋ० १।६८।५; १। ६६।११; २।२।५; २।३४।२; ४।७।३ तथा ६।४९।३, १२) और तारा से वहाँ का इस्तर शब्द उद्भूत है। नक्षत्र-पिता दक्ष का उल्लेख प्रवासी भारतीय आर्यों के वहाँ वाले लेखों में पाया गया है।

अपना नक्षत्र ज्ञान बहुत पुरातन है। ऋ० १०।६२।१४ में चंद्रमा दिव्य नारियों (= नक्षत्रों) का युवा पति है। १०।१२८।६ में इंद्र द्वारा 'नक्षत्रों के बीच चंद्र-मार्ग का विधान' कथित है। ऋ० १०।६८।११ तथा १०।८५।२ में नक्षत्रों का बहुवचन में उल्लेख है। शेषोक्त सूक्त में आगे अनुकमपूर्वक अघा और अर्जुनी नाम से मघा और दोनों फाल्गुनियाँ आई हैं।[११] इससे हम दो बातें जान पाते हैं। एक तो यह कि उस समय नक्षत्रों के नाम आजकल से बहुत भिन्न थे; अर्थात् ये बहुत पुराने नाम हैं।[१२] दूसरे यह कि यद्यपि उनके नाम भिन्न थे, उनका अनुक्रम संभवतः वही था जो आज है, क्योंकि वहाँ उक्त नाम इसी अनुक्रम से हैं। इनके अतिरिक्त ऋ० में तिष्य (= पुष्य) नक्षत्र का नाम भी आया है।[१३]

कृष्ण० में सत्ताईस नक्षत्रों की पूरी सूची दी है।[१४] उसमें भी कई नाम आज

११—अघासु हन्यन्ते गावोऽर्जुन्योः पर्युह्यते।—ऋ० १०।८५।१३

१२—अथर्व० में यह ऋचा इस प्रकार आती है—मघासु हन्यन्ते गावः फाल्गुनीषु व्युह्यते (अथर्व० १४।१।१३)। उस समय नक्षत्र अपने वर्तमान नाम पा चुके थे। प्रसंगवश यहाँ यह बात भी निरीक्ष्य है कि वैदिक मंत्रों के रूप समयानुसार परिवर्तित हुए हैं।

१३—ऋ० ५।५४।१३; १०।६४।८

१४—कृष्ण० ४।४।१०

के नामों से भिन्न हैं, किंतु मघा और फाल्गुनी का नाम अघा और अर्जुनी नहीं। इससे प्रतिपन्न होता है कि ऋ० वाले नाम उस सूची से कहीं पुराने हैं। अर्थात् अपना नक्षत्र-ज्ञान कृष्ण० वाली उक्त नामावली के बहुत पहले से चला आता था।

कृष्ण० सरीखी एक सूची अथर्व० में भी है। इसमें अट्ठाईस नक्षत्र हैं, जिन्हें चांद्रमस कहा है।[१५] इसके नाम प्रायः सर्वथा आज के हैं और इसमें उत्तराषाढा तथा श्रवण के बीच अभिजित् नामक नक्षत्र परिगणित है जो आज की नक्षत्र-सूची में भी उसी ठिकाने है। इस अभिजित् के अतिरिक्त उक्त दोनों सूचियों में ऐक्य है। इन दोनों सूचियों का आज की सूची से केवल यह अंतर है कि ये कृत्तिका से चलती हैं, जब कि आज की सूची उसके दो नक्षत्र पहले अश्विनी से, अन्यथा तीनों ही सूचियों में ऐक्य है।[१६]

नक्षत्रों की कृतिकाद्य सूची से संभावित है कि अपनी नक्षत्र-गणना तब से चलती है जब कृत्तिका ठीक पूरब में उगती अर्थात् जब वह ख-विपुव (सेलेश्चियल इक्वेटर) पर थी। इस खगोलीय स्थिति का समय ह्विटनी तथा तिलक की गणना के अनुसार २३५० ई० पू० है। शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने अपने भारतीय ज्योतिष शास्त्र के इतिहास —भारतीय ज्योतिःशास्त्र (मराठी)—में यह समय ३००० ई० पू० या उसके भी पहले सिद्ध किया है। कृत्तिका की इस पूर्व दिशा वाली स्थिति को खूँट बनाकर नक्षत्रमाला कृत्तिकाद्य स्थिर की गई कि नक्षत्र-गणना अध्रुव न हो जाय। तै० ब्रा० के वचन —मुखं वा एतन्नक्षत्राणां यत् कृत्तिकाः—से यही अभिप्रेत है।

लग० बारहवीं शती ई० पू० के शत० की बहुधा उद्धृत उक्ति –

१५—अथर्व० १६।७।१–५

१६ – कृष्ण० और अथर्व० वाले नक्षत्रनामों का वर्तमान नामों से मुख्य अंतर यह है—कृष्ण० में पुष्य का नाम तिष्य, आश्लेषा का आश्रेषा, पूर्वा-फाल्गुनी और उत्तरा-फाल्गुनी का केवल फाल्गुनी, ज्येष्ठा का रोहिणी, मूल का विचृत्, दोनों आषाढाओं का केवल आषाढा, श्रवण का श्रोणा, शतभिषा का शतभिषक्, दोनों भाद्रपदाओं का केवल प्रोष्ठपदा, अश्विनी का अश्वयुज और भरणी का अपभरणी है।

अथर्व० में धनिष्ठा का श्रविष्ठा, शतभिषा का शतभिषक्, दोनों भाद्रपदाओं का प्रोष्ठपदा और अश्विनी का अश्वयुज है।

एता ह वै प्राच्यै दिशो न च्यवन्ते। सर्वाणि ह वा अन्यानि नक्षत्राणि प्राच्यै दिशश्च्यवन्ते।—शत० २।१।२।३

अर्थात् 'यह कृत्तिका प्राची दिशा से च्युत होती ही नहीं, जब कि अन्य सब नक्षत्र प्राची दिशा से च्युत होते हैं'—स्पष्ट कह रही है कि कृत्तिका की यह स्थिति सैद्धांतिक थी, दृश्य (= गोचर) गणना से उसका कोई संबंध न था—वस्तुतः नभोमंडल में नक्षत्रों का स्थान कहीं का कहीं हो चुका था। दूसरे शब्दों में, उस समय जब कृत्तिका की उक्त ख-स्थिति हजार वर्ष के ऊपर पुरानी पड़ चुकी थी तब भी गणना के लिये वह जहाँ की तहाँ मानी जाती। अपने ज्योतिष में ऐसी प्रवृत्ति निरंतर चली आई है। यह कृत्तिकाद्य गणना अपेक्षाकृत इधर तक चलती रही।

संवत्सर

वैदिक साहित्य में नक्षत्रनिष्ठ चांद्र मास के नामों का इंगित है।[१७] लगध० ने ऐसे बारहों चांद्र मासों के नाम दिए है। उन दिनों, जैसे आज भी, जो पूर्णिमा जिस नक्षत्र से युक्त होती उसी के अनुसार उसका नाम होता—जैसे अश्विनी नक्षत्र से युक्त पूर्णिमा आश्विनी, कृत्तिका से युक्त कार्तिकी इत्यादि। इन्हीं पूर्णिमा-विशेषों से चांद्र मासों के नाम बने। यथा, जिस महीने में आश्विनी पूर्णिमा पड़ी वह आश्विन, जिसमें कार्तिकी पड़ी वह कार्तिक इत्यादि। किंतु एक पूर्णिमा का नाम इस परिपाटी से भिन्न था। वह है आग्रहायणी पूर्णिमा। यह नाम नक्षत्रपरक न होकर यह व्यक्त करता है कि उस पूर्णिमा का दिन अग्रहायण, अर्थात् वर्ष का प्रथम दिन था।

पिछले वैदिक साहित्य से हमें पता चलता है कि वर्ष का आरंभ पूर्णिमा से हुआ करता था। उन दिनों यह वत्सर-आरंभवाली पूर्णिमा फाल्गुनी पूर्णिमा थी। एक अन्य वचन के अनुसार चैत्री पूर्णिमा से वर्ष आरंभ होता था। इससे इतना तो निर्विवाद है कि पुराकाल में पूर्णिमा से वत्सर-आरंभ की प्रथा थी। इसके प्रकाश में हम यह पाते हैं कि जिस प्रकार पिछले वैदिक काल में फाल्गुनी वा चैत्री पूर्णिमा से वर्षारंभ होता, उसी प्रकार पहले कभी मार्गशीर्षी पूर्णिमा हायन (=वर्ष) का अग्र (= प्रथम) दिवस थी।

१७—कृष्ण० ७।४।८, कौ० ब्रा० १९।२।३, पंच० ब्रा० ५।९।९

जिस प्रकार आज वर्ष की आरंभवाली पड़िवा को वर्ष-प्रतिपदा कहते हैं उसी प्रकार उन दिनों वर्ष-आरंभवाली उस पूर्णिमा को आग्रहायणी पूर्णिमा कहते। इतना ही नहीं, इसी कारण उस पूर्णिमावाले नक्षत्र मृगशिरा की संज्ञा भी अग्रहायण (=वर्ष का अग्र नक्षत्र) हो गई थी। दूसरे शब्दों में, जहाँ अन्य पूर्णिमाओं के नाम उनके नक्षत्रों के अनुसार थे, वहाँ इस पूर्णिमा से वर्ष आरंभ होने के कारण उलटे इसके नक्षत्र का नाम पूर्णिमा के अनुसार था। और, उसकी यह संज्ञा इतनी चालू थी कि उसका वास्तविक नाम मृगशिरा गौण हो गया था। यही कारण है कि पाणिनि ने जहाँ अन्य पूर्णिमाओं के नाम उनके नक्षत्रों के अनुसार (४।२।३) एवं महीनों के नाम उनकी पूर्णिमाओं के अनुसार (४।२।२१) नियमित किए हैं, वहाँ आग्रहायणी (=अग्रहायण = मृगशिरा नक्षत्र से युक्त पूर्णिमा) संज्ञा के वैलक्षण्यवश उससे युक्त महीने के नामकरण के लिये एक पृथक् सूत्र रक्खा है (४।२।२२), जिसके अनुसार आग्रहायणी से बनकर वह आग्रहायणिक होता है।

तिलक ने इस विषय की लंबी मीमांसा करके निरूपित कर दिया है कि एक समय अपने यहाँ अगहन की पूर्णिमा से वर्ष आरंभ होता था।[१८] यही ऋ० का वर्ष-वाचक 'हिम' है जो उसमें बहुधा आया है।[१९] इसका अर्थ यह हुआ कि उन मंत्रो के काल में हेमंताद्य वर्ष का प्रचलन था।

हेमंताद्य वर्ष की याद बहुत इधर तक कुछ न कुछ बनी रही। पाणिनि के अतिरिक्त और कई ठिकाने हिमाद्य वर्ष का इंगित है। इनमें से एक बहुत प्रसिद्ध वचन भगवद्गीता का "मासानां मार्गशीर्षोऽहम्" है। चरक सूत्रस्थान ६।५ में हेमंत से ऋतुचर्या आरंभ होती है। वाग्भट इसकी विवृति करता हुआ काल के ब्योरे और विभाजन में जाकर जब ऋतु पर पहुँचता है तो 'पक्षद्वयं मासः स तु शुक्लान्तः' कहकर छः ऋतुओं की गिनती मार्गशीर्ष से करता है—तैः मार्गशीर्षादिभिः द्विसंख्यैः क्रमात् हेमन्त···शरदाख्याः षड्ऋतुवो भवन्ति" (अष्टांग संग्रह, सूत्रस्थान ४।५)। एक अन्य उल्लेख विष्णु० के २।८।७५ पर प्रसिद्ध टीकाकार श्रीधर स्वामी

१८—ओराअेन, पृ० ७३,७४ तथा आगे।

१९—१।६४।१४, १।७३।६, २।१।११, २।३३।२, ५।५४।१५, ६।४।८, ६।१०।७, ६।१३।६, ६।१७।१५, ६।२४।१०, ६।४८।८, ६।७४।८

की टीका में मिलता है—" मार्गशीर्षस्य हि वर्षादित्वं केचिद् ब्रूयुः । आदाय मार्गशीर्षादि द्वौ द्वौ मासावृतुर्मतः—इत्याह कात्यायनः । अग्रहायणमस्येति ह्याग्रहायणी मृगशिरस्तद्योगाद्या पूर्णमासी सा आग्रहायणी स आग्रहायणिको मासः—इति समाख्या निरुक्तितश्च इति । इदानीं तु वर्षस्य मार्गादित्वं व्रतार्थम् ।" अमर का "द्वौ द्वौ मार्गादि मासौ स्यादृतुः" प्रसिद्ध है ही ।

ऋ० के अनंतर अपने समूचे प्राचीन वाङ्मय में केवल वाल्मीकि० ऐसा ग्रंथ है जिसमें हम हेमंताद्य वर्ष वस्तुतः प्रचलित पाते हैं । राम के पंचवटी-वास के दौरान में इसका वर्णन है ।[20] इसके अतिरिक्त संवत्सर नाम से वाल्मीकि० में दो ठिकाने इसका उल्लेख है । वहाँ संवत्सर की निकटवर्ती घटनाओं के कारण संवत्सर-काल हेमंत में ही पड़ता है ।[21] इस प्रकार हम देखते हैं कि राम के समय में आग्रहायणी पूर्णिमा से प्रवृत्त होनेवाला वर्ष चलता था । यह समय ऋ० के हेमंत-वर्ष संबंधी मंत्रों से अनतिदूर है ।

संवत्सर एक पारिभाषिक शब्द है जो किन्हीं बारह महीनों के किसी एक पुंज का वाचक न होकर बारह महीनों के किसी निर्धारित पुंज का वाचक है । संवत्सर और वर्ष का यह अंतर अथर्व० १।३५।४ में प्राप्त है । यह निर्धारित वर्ष-चक्र (= संवत्सर) ज्योतिषसम्मत होता, जिसके अनुसार राजा-प्रजा के ऐहिक-धार्मिक कृत्य संपन्न होते । संवत्सर की प्राचीनता ऋ० में पैठी है (१।१६१।१३; १०।१९०।२) । शेषोक्त उल्लेख में तो संवत्सर सृष्टि पुरातन कथित है ।

२०—वसतस्तस्य तु सुखं राघवस्य महात्मनः ।
शरद्व्यपाये हेमन्त ऋतुरिष्टः प्रवर्तते ॥१
अलंकृत इवाभाति येन संवत्सरः शुभः ॥४ (क)
नवाग्रयण पूजाभिरभ्यर्च्य पितृदेवताः ।
कृताग्रयणका (ख) काले सन्तो विगतकल्मषाः ॥५
ज्योत्स्ना तुषारमलिना पौर्णमास्यां न राजते (ग) ।१५
—अरण्य०, १६

(क) रामायण की प्रसिद्ध टीका 'तिलक' कहती है—आद्यत्वात् ।

(ख) अग्निष्टोम में प्रथम अर्चा ।

(ग) यहाँ आग्रहायणी पूर्णिमा विवक्षित है ।

२१—द्रष्टव्य—लेख का अंश २

जिस समय हिमाद्य वर्ष प्रारंभ होता उसी समय व्रीहि की फसल भी होती। इसी कारण हायन का अर्थ व्रीहि और काल दोनों है। इन्हीं अन्नों से देवता-पितरों की अर्चा की चर्चा वाल्मीकि० के उक्त अवतरण में है। आज भी फसल को उसके पाक के अनुसार क्वारी, अगहनी, चैती आदि कहते हैं। जेंद में इस हायन का रूप ज़्यन (शीतकाल) मिलता है। इससे इसकी पुरातनता का अनुमान किया जा सकता है—जब भारतीय और ईरानी आर्य विलग न हुए थे।

यह हुई अपने प्राचीन पंचांग की एक सामान्य रूपरेखा जिसके प्रकाश में रामचरित की कुछ मुख्य घटनाओं के समय-निर्धारण का प्रयत्न आगे किया जा रहा है।[२२]

२

वाल्मीकि० ने रामचरित की कतिपय मुख्य घटनाओं का समय कहीं नक्षत्र, कहीं तिथि कहीं महीने तथा कहीं ऋतु में दिया है। इनके सहारे राम वन-गमन से लेकर राज्याभिषेक तक की समयावली प्रस्तुत हो जाती है। इनके अतिरिक्त रामायण में कई मुहूर्तों के नाम भी आए हैं।

जब राम को युवराज बनाना निश्चित हुआ तब चैत्र मास था।[२३] पुष्य नक्षत्र में उनका अभिषेक स्थिर हुआ।[२४] यह पुष्य नक्षत्र साधारणतः चैत्र शुक्ल अष्टमी से दशमी तक पड़ता है। प्रस्तुत प्रसंग में यह तिथि संभवतः दशमी थी। किंतु अभिषेक के बदले उसी तिथि को वे विवासित किए गए। यह विवासन चौदह वर्ष दंडकारण्य में वनवास के लिये था।[२५] फलतः वनवास उसी दिन आरंभ न हुआ; वनवासार्थ प्रव्रजन मात्र आरंभ हुआ।

२२—अपने प्राचीन पंचांग वाली सभी इकाइयों की परंपरा अपने विद्यमान पंचांग में चली आती है। अपने दान-संकल्प में हम युग, संवत्, अयन, ऋतु, मास, पक्ष, तिथि, और नक्षत्र नित्य उच्चारित करते हैं। हाँ, वे ज्योतिष वेदांग के अनुसार न होकर, सिद्धांत ज्योतिष के अनुसार होते हैं। इसी कारण उनमें वार और राशि का पेवंद लगा रहता है।

२३—अयोध्या० ३।४

२४—अयोध्या० ३।४०, ४।२, २१, २२, ३३

२५—अयोध्या० १८।३७; १९।२३, २५; २०। २८, २६; २७।२३; ३४।२२ आदि।

अयोध्या से सई नदी तक कोसल जनपद था। उसके आगे गंगातट तक सजन वन अर्थात् बसा हुआ वन था।[२६] यह गुह का राज्य था, जिसकी राजधानी थी—गंगा तटवर्ती शृंगवेरपुर। वहाँ तक जनपद माना जाता। शृंगवेरपुर पर गंगा पार करके राम कहते हैं--आज जनपद के बाहर हमारी पहली रात बीतेगी।[२७] यहीं से प्रयाग वन आरंभ हो जाता।

गंगा पार करते हुए सीता ने मँझधार में अपनी मंडली के कुशल के लिये गंगा की जो प्रार्थना की थी और मन्नत मानी थी उस प्रसंग में 'वन में पूरे चौदह वर्ष बसकर' आया है।[२८] इससे स्पष्ट है कि अभी उनका वनवास आरंभ नहीं हुआ। प्रयाग वन के छोर--गंगा-यमुना-संगम--पर भरद्वाज आश्रम था। मुनि के अनुरोध पर भी राम वहाँ नहीं बसे, क्योंकि उन्हें दंडक में बसना था।[२९] यमुना-पार से दंडक आरंभ हो जाता था. उनके बताने पर राम ने चित्रकूट में बसना निश्चित किया। चित्रकूट पहुँचकर जब तक वे बस न गए, मार्गस्थ ही रहे। अयोध्या से चित्रकूट तक उन्हें छः दिन लगे। यद्यपि वहाँ उसी दिन आवास बनाकर वे बस गए थे फिर भी, यतः वहाँ अपराह्न में पहुँचे, अतः सातवें दिन सूर्योदय से उनका वनवास आरंभ हुआ। उक्त चैत्र शुक्ल १० से गिनकर इस सातवें दिन सामान्यतः वैशाख कृष्ण पड़िवा पड़ती है। अथात् वैशाख कृष्ण १ से राम का वनवास आरंभ हुआ।

इधर निर्वासन के तीसरे दिन शृंगवेरपुर से प्रयाग वन के लिये गंगा पार करके ज्यों ही राम ओझल हुए, त्यों ही सुमंत्र खाली रथ लेकर अयोध्या लौटे। दूसरे दिन (= राम-निर्वासन के चौथे दिन) वे वहाँ पहुँचे। तब तक दशरथ की हालत बिगड़ चुकी थी। राम के न लौटने से वे उसी रात चल बसे।

उसके दूसरे दिन प्रातःकाल भरत को बुलाने दूत भेजे गए जो दौड़ादौड़ केकय पहुँचे। उनके पहुँचने का समय नहीं दिया है; संभवतः वे पाँचवे दिन पहुँचे थे। दूसरे दिन भरत वहाँ से अयोध्या के लिये प्रस्थित हुए और आठवें दिन अयोध्या

२६—अयोध्या० ५२।६६

२७—अयोध्या० ५३।१

२८—अयोध्या० ५२।८५

२९—अयोध्या० ५४।१६

पहुँचे। उसी दिन उन्होंने दशरथ का संस्कार किया और चौदह दिन बाद वे राम को लौटाने के लिये चित्रकूट रवाना हुए। शृंगवेरपुर और भरद्वाज आश्रम में रुकते हुए वे छठे दिन चित्रकूट पहुँचे और वहाँ तीन चार दिन रहकर असफलकाम नंदिग्राम लौट आए। उधर भरत के लौट जाने पर राम और गहन वन में प्रविष्ट हुए तथा अत्रि, शरभंग एवं सुतीक्ष्ण ऋषियों के आश्रम होते चौमासे के पहले पंचाप्सर सर पहुँचे, जहाँ भिन्न भिन्न आश्रमों में बसकर उन्होंने वनवास के दस संवत्सर बिता दिए।[३०]

ऊपर हम संवत्सर शब्द की पारिभाषिकता देख आए हैं और यह भी देख आए हैं कि उन दिनों वह हेमंत से चलता था। यही कारण है कि वाल्मीकि ने रामायण में अथ से इति तक राम-वनवास को 'चतुर्दश वर्ष' वा 'चतुर्दश समाः' का कहा है, चतुर्दश संवत्सर का नहीं। यह दसवें संवत्सर की समाप्ति राम-वनवास के नौ वर्ष आठ महीने पर पड़ी। यथा, वैशाख कृष्ण १ से उनका वनवास आरंभ हुआ। उस समय चालू संवत्सर के चार महीने (अगहनी पूनम से वैशाख बदी पड़िवा तक) बीत चुके थे। फलतः यह चालू संवत्सर—जिसे हम समझने के लिये संवत्सर १ कहें—वनवासवाले पहले वर्ष के आठ महीने पर पूरा हुआ और इसी क्रम से वनवास के नौ वर्ष आठ महीने (दूसरे शब्दों में दसवें वर्ष के आठ महीने) पर सं० १० पूरा हुआ।

अब पंचाप्सर की राक्षस-बाधा दूर हो चुकी थी। अतः ग्यारहवाँ संवत्सर लगते ही वे सुतीक्ष्ण के आश्रम में लौट आए, जहाँ से वे पंचाप्सर सर गए थे। यह आश्रम पंचाप्सर सर से काफी दूर था। यहाँ वे कुछ दिन रहे तब मुनि से आज्ञा पाकर अगस्त्य के यहाँ जाने के लिये मार्गस्थ अगस्त्य-भ्राता के आश्रम गए जो सुतीक्ष्ण के यहाँ से चार योजन पर था। जिस समय राम वहाँ पहुँचे, पकी पिप्पली की तीखी गंध से वन भरा था।[३१] पिप्पली की फसल पूस-माघ में तैयार होती है। अर्थात् राम जब अगस्त्य-भ्राता के आश्रम में पहुँचे तब माघ का महीना

३०—अरण्य० ११।२८

३१—पिप्पली से तात्पर्य दवा में काम आनेवाली पीपर का है। पीपल वृक्ष के लिये संस्कृत में पुल्लिंग पिप्पल होता है और ओषधिवाली पीपर के लिये स्त्रीलिंग पिप्पली। साथ ही तीखी गंध पिप्पली में ही होती है।

था। पंचाप्सर से अगहन में प्रस्थान का इससे पूर्ण सामंजस्य है। इतने चंक्रम और मध्यवर्ती टिकाव के लिये यह स्वाभाविक अवधि है। वहाँ से अगस्त्य आश्रम होते, उनके परामर्श से चौमासे के बहुत पहले, वनवास का दसवाँ वर्ष बीतते वा ग्यारहवें के आरंभिक महीनों में वे पंचवटी जा बसे। वहाँ यह ग्यारहवाँ बरस और बारहवाँ बरस तथा तेरहवें बरस के आठ महीने, जब अगहन में चौदहवाँ संवत्सर प्रवृत्त हुआ, बिना किसी घटना के बीते। इसी बीच मृगया की दैनिक दौड़धूप में उन्होंने जनस्थान--पंचवटी जिसका एक भाग थी—के बहुतेरे राक्षस मार डाले।[३२]

उक्त अगहन के बाद ही राम की जनस्थान के राजा खर, दूषण, त्रिशिरा से मुठभेड़ हुई, जिनके वध की सूचना से भभककर रावण ने माघ में सीता-हरण किया। जब वह सीता को लिए जा रहा था तो जटायु घाम-सेवन के लिये सूर्य की ओर पीठ किए सो रहा था।[३३] यह माघ के ही अनुकूल चर्या है। इसी निद्रा से उठकर वह रावण से भिड़ा था। यह घटना वनवासवाले तेरहवें वर्ष के दसवें महीने की है।

लंका पहुँचकर सीता को बहुत त्रस्त करने पर भी जब रावण वशवर्तिनी न बना सका तो उन्हें बारह महीने का समय दिया कि यदि इस बीच तू राजी न हुई तो मेरे रसोइया तुझे बोटी-बोटी काटकर मेरे प्रातराश के लिये पका डालेंगे।[३४]

इधर राम उन्हें खोजते हुए किष्किंधा पहुँचे। वहाँ सुग्रीव से उनका सख्य हुआ। सुग्रीव-सख्य के समय की एक बात उल्लेखनीय है। स्वयं सुग्रीव ने फूले साल की एक डाल तोड़कर राम के एवं अपने बैठने के लिये बिछा दी थी।[३५] इससे हम जान पाते हैं कि उस समय कौन महीना था। बैसाख साख-जेठ में फूला करता है। लग० ज्येष्ठ कृष्ण इकम को, जब भरत चित्रकूट पहुँचे थे तो लक्ष्मण

३२—सुंदर० ३१।६, युद्ध० १२ ।१८

३३—गौ० अरण्य० ५६।१,२

३४—अरण्य० ५६।२५

३५—किष्किंधा० ५।२०

ने एक फूले साल के पेड़ पर से उनकी सेना देखी थी।[३६] इस प्रकार यह वनवास के चौदहवें वर्ष का पहला-दूसरा महीना था।

सुग्रीव के लिये बालि का युद्ध में वध करके राम ने उन्हें उनके अपहृत राज्य पर स्थापित किया, तब तक चौदहवें वर्ष का चौमासा आरंभ हो गया। विरही राम का चौमासा ऋष्यमूक पर बीता।[३७]

क्वार सुदी में शरद् के निखर जाने पर लगभग द्वादशी को एक महीने की अवधि देकर सुग्रीव ने वानरों को सीता-अन्वेषण के लिये भेजा।[३८] कोई एक महीने भर वे असफल इधर उधर भटकते रहे, तथापि अनजाने लंका के बहुत निकट समुद्र के इस पार तक पहुँच गए। अवधिवाले एक महीना बीते कार्तिकी पूर्णिमा के आसपास की यह बात है।[३९] वहाँ जटायु के भाई संपाती ने उन्हें लंका का पता बताया और संभवतः कार्तिकी पूर्णिमा को लवण समुद्र का लंघन करके हनूमान् लंका पहुँचे। इस प्रसंग में वाल्मीकि में एक पंक्ति आती है—'विवृधे रामवृध्यर्थं समुद्र इव पर्वसु' (सुंदर० १।?०)। इसमें यदि 'पर्वसु' का दीप-देहली अर्थ लें तो हनूमान् का पूर्णिमा को लवणार्णव पार करना निश्चित होता है।

अगहन बदी दूज-तीज के लगभग उन्होंने अशोक-वनिका में सीता को पाया। कुछ घड़ी रात गए अशोक वनिका में पहुँचकर ज्यों ही वे सीता को देख चुके थे त्यों ही चंद्रोदय हुआ था।[४०] दूसरे दिन एकांत पाकर वे उनसे मिले। यह सीता हरण से दसवाँ महीना था। सीता ने उन्हें बताया कि रावण ने मुझे बारह महीने की अवधि दी थी, उसमें दसवाँ महीना चल रहा है. वर्ष पूरा होने में दो महीने बाकी हैं, किंतु मैं (इस) महीने के ऊपर न जीऊँगी—*संवत्सर-काल* तक मेरा जीवन है। यदि तब तक राम न आए तो शरीर त्याग दूँगी।[४१] सीता की इस उक्ति से हम जानते हैं कि जब उक्त दसवाँ महीना पूरा होता था तभी

३६—अयोध्या० ९६।११

३७—किष्किंधा० ३०।६४

३८—किष्किंधा० ३०।२, ४०।६८ तथा ५३।२५ के साथ पठित।

३९—किष्किंधा० ५३।२५

४०—सुंदर० १७।१

४१—सुंदर० ३७।७, ८; १८।६७

संवत्सर-काल पड़ता था। दूसरे शब्दों में उनकी उक्ति का भाव था—इस दसवें महीने (जो *संवत्सर-काल* पर पूरा होगा) के ऊपर मैं न जीऊँगी।

सफल हनूमान् अपनी मंडली समेत भागाभाग किष्किंधा लौटे और राम ने विजय मुहूर्त एवं उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में, सीता-उद्धार के निमित्त स-वानरसेना, कूच कर दिया।[४२] सीता की 'मासात् ऊर्ध्वं न जीवेऽहम्' वाली प्रतिज्ञा जानकर उनके लिये लाजिमी था कि वे अविलंब कूच कर दें और मासवाली अवधि की पूर्ति के पहले लंका पहुँच जायँ। कूच करते हुए उन्होंने कहा भी कि सीता इस अभियान का समाचार पाकर आश्वस्त हो जायँगी।[४३] राम जब लंका पहुँच गए तब रावण द्वारा सीता-वध की आशंका भी समाप्त हो गई, क्योंकि उस समय युद्ध-काल में ऐसा वध युद्ध-धर्म के विरुद्ध था।

उक्त उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र अगहन बदी ९, १० के लगभग पड़ता है। अगली अर्थात् आग्रहायणी पूर्णिमा को—कूच के लगभग बीस दिन पर—लंका के सुवेल पर्वत पर राम का मोरचा जमा था।[४४] उन दिनों इस पूर्णिमा से संवत्सर चलता, यही सीता-कथित *संवत्सर काल* है।

पूस लगते युद्ध आरंभ हुआ। लगभग पैंतालीस दिन युद्ध चलने पर, माघ कृष्ण १३ को मेघनाद निहत हुआ। दूसरे दिन, चतुर्दशी को रावण ने रणक्षेत्र में उतरना निश्चित किया। अमा को वह रंगभूमि में उतरा[४५] और तीन दिन के द्वैरथ युद्ध में माघ सुदी २, ३ को राम के हाथ मारा गया। मध्यप्रदेश में अब तक रावणवंशी गोंड माघ में रावण को पिंड देते हैं। यह वनवासवाले चौदहवें वर्ष का दसवाँ महीना था। अर्थात्, चौदह वर्ष पूरे होने को दो महीने और थे।

रावण के उत्तर कर्म के उपरांत राम ने विभीषण को लंका का राज्य दिया। इसके उपरांत विभीषण ने उनकी पहुनई की। तब वे सीता तथा वानरदल समेत किष्किंधा लौटे जहाँ वानरों ने उनकी पहुनई की। वहाँ से सुग्रीव, हनूमान्, अंगद आदि प्रमुख वानरों तथा उनके दल समेत राम अयोध्या के लिये प्रस्थित हुए। यह

४२—युद्ध० ४।३, ६

४३—युद्ध० ४।५

४४—सुंदर० ३८।२०

४५—युद्ध० ६३।६५

यथासुख यात्रा पैदल संपन्न हुई। इसके दो इंगित रामायण से मिलते हैं। एक तो, जिस समय राम-वाहिनी नंदिग्राम के निकट पहुँची, लोगों को उसकी गर्द दिखाई दी।[४६] विमान से आनेवाले किसी दल से ऐसी धूल नहीं उठ सकती। दूसरे, जब वानर राम की पहुनई प्राप्त करके किष्किंधा को लौटे तो स्पष्ट लिखा है कि वे जैसे आए थे वैसे ही लौटे—"जग्मुरेव यथागतम्"।[४७] यदि वे विमान से आए होते तो यह उक्ति न रहती।

इस प्रकार, चित्रकूट में वैशाख कृष्ण प्रतिपदा के सूर्योदय से आरब्ध वनवास के चौदह वर्ष की पूर्तिवाली (अमुक मास की) पंचमी तिथि को राम भरद्वाज आश्रम पहुँचे—

पूर्णे चतुर्दशे वर्षे पंचम्यां लक्ष्मणाग्रजः।
भरद्वाजाश्रमं प्राप्य ववन्दे नियतो मुनिम्॥ युद्ध० १२७।१

वहाँ से तत्काल उन्होंने हनूमान् को भरत का समाचार लेने के लिये अयोध्या से एक कोस इधर नंदिग्राम भेजा, क्योंकि भरत ने निश्चय कर रक्खा था कि यदि राम चौदह वर्ष पर न लौटे तो मैं जल मरूँगा।[४८] भरद्वाज ने उन्हें उस रात अपने आश्रम में रोक लिया।[४९] प्रातः षष्ठी को वे अयोध्या के लिये प्रस्थित हुए और उसी दिन पुष्य नक्षत्र में मार्गस्थ नंदिग्राम पहुँचे।[५०] स्वभावतः उनका बड़ा ही हार्दिक और उत्साहपूर्ण स्वागत हुआ; सारी अयोध्या वहाँ उमड़ पड़ी थी। संध्या समय राम अयोध्या पहुँचे—उनके निजी भवन में सुग्रीव ठिकाए गए, तब दीया बलने का समय था।[५१] सप्तमी को पूर्वाह्न में उनका धूमधामी राज्याभिषेक अयोध्या में हुआ।

रामायण में उक्त पंचमी का महीना नहीं दिया है। आगे केवल यह कहा है कि उसके दूसरे दिन से पुष्य नक्षत्र था, जैसा हमने अभी देखा। तीसरे दिन सप्तमी को जब राम का अभिषेक हुआ तब तक पुष्य था।[५२] इतने सूत्र से हम यह

४६—युद्ध० १३०।२७
४७—युद्ध० १३१।८५
४८—अयोध्या० ११२।२५
४९—युद्ध० १२७।१७
५०—युद्ध० १२९।५८
५१—युद्ध० १३१।४८
५२—गौ० युद्ध० ११९।५९,७०

जान पाते हैं कि वह पंचमी वैशाख शुक्ल की थी, क्योंकि उसी में पंचमी से सप्तमी तक पुष्य नक्षत्र पड़ता है।

उक्त उपलब्धि से यह प्रतिपन्न हुआ कि राम ने ३६६ दिनोंवाले सौर वर्षमान से—जो वर्ष का सबसे लंबा मान था—वनवास पूरा किया। दूसरे शब्दों में ५१२४ *सावन* दिनों (३६६ *सावन* दिन × १४ वर्ष) पर उनका वनवास पूरा हुआ। इस बीच प्रति तीसरे बरस पड़नेवाले साधिमास संवत्सरों द्वारा चांद्र, सौर वर्षों का डाँड़ा यथा-यथा-समय बराबर होता रहा। यह क्रम ऐसा पड़ा कि वनवास के साढ़े बारह वर्ष पर एक वैसा डाँड़ा बराबर हुआ। तब शेष डेढ़ वर्षों में उक्त दोनों वर्षमानों में (प्रतिवर्ष बारह दिन वाला) अठारह *सावन* दिनों का अंतर पड़ा—जब कि चांद्र मान से चैत्र पूर्णिमा को वनवास पूरा हो गया, तब चौदह सौर वर्ष की पूर्ति के लिये अठारह *सावन* दिन अपेक्षित थे।

यदि चांद्र तिथियाँ *सावन* तिथि की सहचारिणी होतीं तो उक्त अठारह दिन पर वैशाख शुक्ल तृतीया पड़ती। किंतु चांद्र तिथियों के प्रकृतिवश उस दिन वैशाख शुक्ल पंचमी पड़ी, जैसा हमने ऊपर वाल्मीकि० से जाना।[५३]

राम-चरित की उक्त समयावली आगे सारणी में स्पष्टीकृत है।

रामायण में मैत्र[५४], अभिजित्[५५], विजय[५६] और विंद[५७]—ये चार मुहूर्त-

---

५३—चंद्र कभी मंद गति से चलता है, कभी तीव्र गति से। फलतः चांद्र तिथियाँ समान नहीं होतीं। एक *सावन* दिन में किसी भी समय कोई तिथि पूरी हो सकती है। इस प्रकार कभी दो तिथियाँ एक *सावन* दिन में भुगत जाती हैं और अहोरात्र की समाप्ति के पूर्व तीसरी तिथि लग जाती है। सूर्योदय के समय जो तिथि रहती है वही उस अहोरात्र की लेखी जाती है। यदि एक ही तिथि दो सूर्योदय में बनी रहती है तो वह तिथि दो बार मानी जाती है। तिथियों की इस क्षय-वृद्धि के कारण पक्ष कभी-कभी सोलह *सावन* दिन का, कभी पंद्रह *सावन* दिन का और कभी चौदह *सावन* दिन का होता है। कई वर्षों के बाद तेरह *सावन* दिनों का पक्ष भी पड़ जाता है।

५४—अयोध्या० ८६।२०

५५—गौ० युद्ध० ११२।७०

५६—युद्ध० ४।३

५७—अरण्य० ६८।१३

नाम भी आए हैं। अपने आधुनिक ज्योतिष के अनुसार दिन-रात में तीस मुहूर्त होते हैं। इनकी व्याप्ति दिनमान का पंद्रहवाँ हिस्सा और रात्रिमान का पंद्रहवाँ हिस्सा मानी है। एक मत यह भी है कि प्रत्येक मुहूर्त ४८ मिनट का होता है।

उक्त मुहूर्तों में से मैत्र और अभिजित् आज भी ज्योतिष में चलते हैं। मैत्र (दिन का तीसरा मुहूर्त) लग० साढ़े सात बजे दिन से व्यापता है और अभिजित् (दिन का आठवाँ मुहूर्त) लग० साढ़े ग्यारह बजे दिन से। विजय (दिन का ग्यारहवाँ मुहूर्त) पुराणोक्त है। वह लग० दो बजे दिन से व्यापता है। विंद मुहूर्त (इसमें रावण ने सीता का हरण किया था) आज की मुहूर्त-सूची में नहीं। इससे जान पड़ता है, रामायण की मुहूर्त-सूची भिन्न थी॥

समयावली

घटना	मास-तिथि (लग०)	वर्ष	संवत्सर
१. राम-यौवराज्याभिषेक की नियत तिथि	चैत्र शुक्ल १०		अगहन पूर्णिमा से प्रवृत्त सं० का चौथा महीना। इसको हम सं० १ कहेंगे।
२. राम-विवासन, उनका तीसरे पहर अयोध्या से निकलकर तमसा किनारे प्रथम रात्रि-वास	,, ,, ,,		
३. शृंगवेरपुर पहुँचकर रात्रि-वास	,, ,, ११		
४. शृंगवेरपुर पर गंगा पार करके भरद्वाज आश्रम के लिये मार्गस्थ, वन में रात्रि-वास इधर सुमंत्र का अयोध्या लौटना	,, ,, १२		
५. राम का भरद्वाज-आश्रम पहुँचना, रात्रि-वास, इधर रात्रि में दशरथ का देहावसान	,, ,, १३		
६. राम का यमुना पार करके चित्रकूट के मार्ग में रात्रि-वास; इधर भरत को बुलाने के लिये दूत-प्रेषण	,, ,, १४	१	
७. राम का चित्रकूट पहुँचकर कुटी-निर्माण, कुटी-प्रवेश और रात्रि-वास	चैत्र-पूर्णिमा		
८. सूर्योदय से वनवास का प्रथम-दिवस आरंभ	वैशाख कृ० १		
९. दूतों का केकय पहुँचना	,, ,, ४		
१०. भरत का केकय से प्रस्थान	,, ,, ५		
११. भरत का अयोध्या पहुँचना, दशरथ-संस्कार	,, ,, १२		
१२. दशरथ का संस्कार संपूर्ण	,, शु० ७		
१३. भरत का चित्रकूट प्रस्थान	,, ,, १०		
१४. भरत का चित्रकूट पहुँचना	ज्येष्ठ कृ० १		
१५. भरत का असफल प्रत्यावर्तन	,, ,, ५		
१६. राम का दंडक-प्रवेश	,, ,, ६		
१७. पंचाप्सर सर पहुँचना	चौमासे के पूर्व		

१८. पंचाप्सर के इर्द-गिर्द ऋषियों के आश्रमों में नौ वर्ष छः महीने वास	अगहनी पूर्णिमा	१-१०	सं० १० पूरा, सं० ११ प्रवृत्त
१९. उक्त प्रदेश छोड़कर सुतीक्ष्ण-आश्रम के लिए प्रस्थान	पौष लगते	} १०	
२०. अगस्त्य-भ्राता के आश्रम में	माघ		
२१. अगस्त्य-आश्रम होते जनस्थान, पंचवटी, में बसना	चौमासे के पहले	११	
२२. खर, दूषण, त्रिशिरा वध	हेमंत	} सं० १४ चालू १३	
२३. रावण द्वारा सीता-हरण[५८]	माघ		
२४. राम ऋष्यमूक में, सुग्रीव-सख्य	ग्रीष्म		
२५. राम प्रस्रवण गिरि पर	चौमासा		
२६. सीता की खोज में वानर-दल प्रेषण	आश्विन शु० १२		
२७. असफल वानरदल का पछतावा, संपाती-मिलन इत्यादि	कार्तिक शु० १४		
२८. हनुमान् का समुद्र-संतरण	कार्तिक पूर्णिमा		
२९. अशोक-वनिका में सीता-दर्शन	अगहन कृ० ३		
३०. राम का लंका के लिये प्रस्थान	,, ,, १०	१४	
३१. स-कटक राम सुवेल पर; लंका का घेरा; बंदिनी सीता का अशोक-वनिका में दसवाँ महीना पूर्ण	अगहनी पूर्णिमा		सं० १४ पूरा, सं० १५ प्रवृत्त
३२. युद्ध आरंभ	पौष लगते		
३३. मेघनाद-वध	माघ कृ० १३		
३४. रावण का युद्धक्षेत्र में उतरने का निश्चय	माघ कृ० १४		
३५. रावण रणक्षेत्र में	माघ अमावस्या		
३६. रावण-वध (लग० ४५ दिन युद्ध चला)	माघ शुक्ल ३		
३७. चौदह वर्ष का राम-वनवास पूर्ण; वे भरद्वाज आश्रम, प्रयाग-वन में प्रत्यागत[५९]	वैशाख शुक्ल ५		

३८. नंदिग्राम में भरत-मिलाप[६०]	वैशाख शुक्ल ६	१५
३९. पूर्वाह्न में राम-राज्याभिषेक[६१]	,, ,, ७	

५८—अभिलेख्य तिथि-रामायण में सीता-हरण की तिथि माघ शुक्ल ८ है।

५९, ६०, ६१—अभिलेख्य तिथि-रामायण में राम के भरद्वाज आश्रम पहुँचने की तिथि वैशाख शुक्ल ५, नंदिग्राम में भरत-मिलाप की वैशाख शु० ६ और राज्याभिषेक की वैशाख शु० ७ है।

राजस्थान के यूपस्तंभ तथा वैदिक यज्ञ[1]

[श्री रत्नचन्द्र अग्रवाल]

प्राचीन भारतीय साहित्य में यज्ञादि की महिमा का विशद रूप से उल्लेख उपलब्ध होता है। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार तो यूप इंद्र का वज्र ही है तथा यज्ञ के अंत में उसकी प्रतिष्ठा होनी चाहिए।[2] खेद है कि इस प्रकार के यूपस्तंभ शीघ्र नष्ट होनेवाले पदार्थ अर्थात् काष्ठ के बने होते थे,[3] इस कारण अब उनकी प्राप्ति सर्वथा अज्ञात ही है।

गृह्य तथा धर्म सूत्रों में यूपस्तंभ-व्यवस्था को प्रोत्साहन न मिल सका। वसिष्ठ-बौधायन-आश्वलायनादि के अनुसार तो यूप का स्पर्श चिता अथवा रजस्वला स्त्री के स्पर्श के समान ही है।[4] कालांतर में पुनः धर्मशास्त्र साहित्य में वैदिक यज्ञादि की प्रशंसा के प्रसंग में यूपस्तंभ की प्रतिष्ठा का उल्लेख मिलने लगता है और इस परिपाटी की निरादृतावस्था समाप्त सी हो गई जान पड़ती है। परिणामतः ईसा की तृतीय एवं चतुर्थ शताब्दियों में पूरबी राजस्थान के कई भागों में वैदिक यज्ञों के अनुष्ठान के साथ साथ यूप-प्रतिष्ठा संबंधी शिलालेख उत्कीर्ण होने लगे। इतना ही नहीं, जयपुर, उदयपुर कोटा आदि स्थानों से कई अर्वाचीन पाषाण-स्तंभ

१—लेख में प्रयुक्त संकेत—ए० इं०=एपिग्राफिया इंडिका, इं० ऐं० = इंडियन ऐंटिक्वेरी।

२—द्रष्ट० ए० इं०, २३, पृ० ४२ तथा आगे।

३—ऋग्वेद १।१३।२४-५ के अनुसार अश्वमेध यज्ञ में प्रतिष्ठित २१ यूपस्तंभों में से ६ स्तंभ बिल्व के, ६ खदिर के, ६ पलाश के, १ उदुंबर का, १ श्लेष्मांतक का तथा १ देवदारु का बना हुआ था। (मोनियर विलियम्स 'संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी' १८६६, पृ० ८५६)। बिलासपुर (मध्यप्रदेश) जिले के चंद्रपुर ताल्लुके में किरारी नामक ग्राम में हीराबंध जलाशय से प्राप्त १६०० वर्ष पूर्व के एक प्राचीन काष्ठ-निर्मित यज्ञस्तंभ पर की लिपि गुप्तकाल के पूर्व की है। यह स्तंभ नागपुर के संग्रहालय में रखा है।

४—ए० इं०, २३, पृ० ४२ तथा आगे।

प्राप्त भी हुए हैं जिनसे तत्कालीन युग में वैदिक विचारधारा पर पर्याप्त प्रकाश पड़ सकता है।[५] इसका यह अर्थ नहीं कि प्राचीन राजपूताना में वैदिक यज्ञादि का प्रभाव ईसा की तीसरी शताब्दी से ही प्रारंभ हुआ। यह सर्वमान्य है कि जयपुर के क्षेत्र में अशोक मौर्य के काल (ई० पू० तीसरी शताब्दी) में बैराट (प्राचीन विराट नगरी) नामक स्थान पर महाराज अशोक के पाषाण-स्तंभ की प्रतिष्ठा हुई थी तथा यह प्रदेश संभवतः बौद्ध धर्म की विचारधारा के अंतर्गत था। साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि ई० पू० द्वितीय वा तृतीय शताब्दी में उदयपुर के समीपवर्ती भूभाग में ब्राह्मण धर्म का किसी प्रकार से भी निरादर न था अपितु तत्कालीन युग में अश्वमेध यज्ञ संपन्न हुए थे तथा संकर्षण वासुदेव की पूजा के निमित्त शिला-प्राकार तक बनवाया गया था। इस आशय का एक लेख घोसुंडी (नगरी के समीप, उदयपुर राज्य) नामक स्थान से प्राप्त हुआ है, जिसका उल्लेख इस प्रकार है--

तेन गाजायनेन पाराशरीपुत्रेण सर्वतातेन अश्वमेधयाजिना[६] भगव (द्) भ्यां संकर्षण वासुदेवाभ्यां अनहिताभ्यां सर्वेश्वराभ्यां पूजाशिलाप्राकारो नारायणवाटिका...। (ए० इं० २२, पृ० १९८–२०५)

वैदिक यज्ञों की यह परंपरा ईसा की चतुर्थ शताब्दी तक अक्षुण्ण बनी रही तथा समय समय पर यूपस्तंभों की प्रतिष्ठा होती रही। यूपस्तंभों के अतिरिक्त चतुर्थ शताब्दी के एक शिलालेख[७] में भी तत्कालीन युग में 'वाजपेय' यज्ञ के निमित्त यूपस्तंभ[८] की प्रतिष्ठा का उल्लेख प्राप्त हुआ है—

५—राजस्थान के बाहर ईसापुर नामक स्थान पर यूपस्तंभों की प्राप्ति सर्वविदित ही है। प्रयाग संग्रहालय के यूपों के लिये ए० इं० २४, पृ० २४५–५१ द्रष्टव्य है। इतना ही नहीं, बृहत्तर भारत के अंतर्गत बोर्नियो नामक प्रदेश के वैसे ही यूपस्तंभ-शिलालेख भारतवर्ष की सीमा से बाहर वैदिक संस्कृति के प्रचार के दिव्य साक्षी हैं (द्रष्ट० ए० इं० २४, पृ० २४७)। बोर्नियो के उक्त लेख में यज्ञ के संबंध में कोई उल्लेख नहीं है।

६—देवदत्त रामकृष्ण भंडारकर कृत 'आर्क्यालॉजिकल रिमेंस ऐंड एक्सकैवेशंस ऐट नगरी', १९२०, कलकत्ता, पृ० १२०, १२४; पुष्यमित्र शुंग ने भी अश्वमेध यज्ञ संपन्न किया था।

७—वही, पृ० १२०; नगरी से प्राप्त।

८—श्री दयाराम साहनी तो ई० पू० तृतीय शताब्दी की एक मुहर पर यूपस्तंभ-चिह्न अंकित मानते हैं। यह वस्तु बैराट नामक स्थान से मिली है (द्रष्ट० बैराट खनन वृत्त, पृ० ३)।

स्य यज्ञे वाजपेये...तस्य पुत्रै (र_) यू (पो)...।

वैदिक काल में सोमयज्ञ तो अधिक प्रचलित थे ही, परंतु 'अग्निष्टोम' नामक भाग अत्यधिक प्रिय था। गौतम धर्मसूत्र ने सात सोमयज्ञों को 'संस्कारों' के समान ही महत्त्व प्रदान किया है। 'सप्त सोमसंस्था' नाम से प्रचलित इन यज्ञों की गणना[९] इस प्रकार है—अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशिन्, वाजपेय, अतिरात्र, अप्तोर्याम। इन्हीं के प्रसंग में समस्त यूपस्तंभ बनाए गए, उत्कीर्ण हुए तथा स्थापित किए गए। पूरबी राजस्थान के ऐसे यूपस्तंभों का परिचय आगे दिया जाता है।

१—नांदसा यूपस्तंभ

राजस्थान के यूपस्तंभों में प्राचीनतम नांदसा[१०] (सहारा जिला, उदयपुर) से प्राप्त हुआ है। इसकी लंबाई १२ फुट और घेरा ५१/२ फुट है। यहाँ 'कृत' वर्ष २८२ (=२२५ ई०) के लेख द्वारा 'षष्ठिरात्र' यज्ञ के अनुष्ठान का बोध होता है यह लेख[११] संभवतः शक क्षत्रपों के राज्य में उत्कीर्ण हुआ था। डाक्टर अल्तेकर का मत है[१२] कि मालव गण की स्वातंत्र्य-घोषणा के परिणाम स्वरूप ही एकषष्ठि यज्ञ का अनुष्ठान हुआ था। खेद है कि यहाँ मालव गण के तथाकथित शत्रुओं का किंचिन्मात्र भी उल्लेख प्राप्त नहीं हो सका है। फिर भी सत्रानुष्ठान समयानुकूल ही था।[१३] पूरबी राजपूताना में वैदिक परंपरा को वस्तुतः पूर्णरूपेण वर्धमान एवं विकसित होने का अवसर मिला। दक्खिनी-पूरबी भाग में कृत संवत् का प्रयोग भी उसी मंगलकारी स्थिति का द्योतक प्रतीत होता है।[१४]

२—बड़वा यूपस्तंभ

कोटा राज्य के अंतर्गत बड़वा नामक स्थान से प्राप्त मौखरि नृपवर्ग के समय

९—ए० इं० २६, पृ० १२०

१०—भीलवाड़ा से ३६ मील तथा ग्वालियर राज्य के गंगापुर नामक स्थान से ४ मील दूर।

११—भंडारकर, ब्राह्मी शिलालेखों की सूची (ए० इं०) संख्या १; इं० ऐं० ५८, १६२६, पृ० ५३

१२—हिस्ट्री ऑव इंडियन पीप्ल, गुप्त वाकाटक एज, भाग ६, १६४६, पृ० ३४-५

१३—वही, पृ० ३७० तथा पा० टि० ३

१४—ए० इं० २३, पृ० ४८-५१

के चार यूप-शिलालेखों द्वारा राजस्थान के राजनैतिक एवं धार्मिक इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ा है। इसमें से तीन तो महासेनापति मौखरि बल के तीन पुत्रों (बलवर्धन, सोमदेव, बलसिंह) के हैं जिनमें से प्रत्येक ने कृत वर्ष २९५ में 'त्रिरात्र'[१५] यज्ञ के अनुष्ठान के निमित्त एक एक सहस्र गौएँ दान में दीं तथा यूपस्तंभ स्थापित किए। बड़वा से नांदसा लगभग ७० मील पश्चिम है तथा नांदसा का लेख बड़वा के इन तीनों लेखों से केवल तेरह वर्ष पुराना है। यहाँ केवल बलवर्धन संबंधी लेख पर ही विचार करना पर्याप्त होगा, क्योंकि शेष सबकी भाषा इसके समान ही है। उल्लेख इस प्रकार है—

सिद्धं क्रिते हि २०० + ९० + ५ फाल्गुन शुक्लस्य पञ्च दि श्री महासेनापतेः मोखरेः बलपुत्रस्य बलवर्धनस्य यूपः त्रिरात्रसंमितस्य दक्षिण्यं गवां सहस्रं।

तैत्तिरीय संहिता से ज्ञात होता है कि प्रजापति ने वसु, रुद्र तथा आदित्य वर्ग के लिये ही इस यज्ञ का प्रारंभ एवं अनुष्ठान किया तथा तीनों लोकों पर विजय प्राप्त की। इस यज्ञ विशेष मे अग्निष्टोम, उक्थ्य तथा अतिरात्र यज्ञों का सम्मिश्रण है। त्रिरात्र यज्ञ की विधि तो यह है कि अग्निष्टोम, उक्थ्य तथा अतिरात्र –इन सबका क्रमशः पहले, दूसरे और तीसरे दिन अनुष्ठान किया जाता है। इस प्रकार संपन्न होनेवाले यज्ञ का पूरा नाम था 'गर्ग त्रिरात्र',[१६] जो कालांतर में केवल त्रिरात्र नाम से संबोधित होने लगा। दूसरे दिन अश्व-बलि देने पर इसी का नाम 'अश्वी त्रिरात्र' पड़ सकता था। इसके अतिरिक्त त्रिरात्र यज्ञ में एक हजार गौओं का दान आवश्यक है। परिणामतः बड़वा के उपर्युक्त लेखों में इतने ही दान की व्यवस्था का उल्लेख है। इसी भाव से शतपथ ब्राह्मण में इस यज्ञ को 'सहस्रदक्षिणा त्रिरात्र' कहा गया है।

बड़वा से प्राप्त चतुर्थ यूपस्तंभ भी यज्ञ-व्यवस्था की जानकारी के लिये महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि उसमें काल-गणना का सर्वथा अभाव है, परंतु लिपि

१५—ए० इं० २३, पृ० ४२-५२; दिनेशचंद्र सरकार, 'सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस', कलकत्ता, १९४२, पृ० ९२

१६—द्रष्ट० ए० इं० २३, पृ० १२२, टि० १ में सूचित शांखायन श्रौतसूत्र का उद्धरण।

ई० तीसरी शताब्दी की प्रतीत होती है।[१७] मौखरिवंशी धनुत्रात ने 'अप्तोर्याम' यज्ञ के अनुष्ठान के निमित्त एक यूप की प्रतिष्ठा की थी—

मौखरे हस्तीपुत्रस्य धनुत्रातस्य धीमतः अप्तोर्य्याम्णः क्रतो यूपः सहस्रोगव दक्षिणा।

उक्त यज्ञ एक दिन में संपन्न होनेवाले सोमयज्ञ का एक रूप है परंतु अतिरात्र यज्ञ की नाईं संपूर्ण दिन के अतिरिक्त अगली रात्रि तक यह यज्ञ समाप्त होता है।[१८]

३—बर्नाला यूपस्तंभ

जयपुर राज्य के अंतर्गत लालसोट-गंगापुर सड़क से ८ मील दूर बर्नाला नामक स्थान से दो यूपस्तंभ प्राप्त हुए थे जिनका सर्वप्रथम उल्लेख श्री दयाराम साहनी ने साँभर के खननवृत्त में किया था।[१९] उस समय ये जयपुर के हवामहल में लाए गए थे। आजकल ये आमेर संग्रहालय में हैं।

(क) उक्त दो विशाल यूपस्तंभों में एक कृत संवत् २८४ का, अर्थात् नांदसा स्तंभ से दो ही वर्ष बाद का है। इसके अनुसार कृत वर्ष २८४ में सोहर्त-गोत्रोत्पन्न वर्धन नामक व्यक्ति ने सात यूपस्तंभों की प्रतिष्ठा का पुण्यार्जन किया—

सिद्धं कृतेहि २०० + ८० + ४ चैत्र शुक्लपक्षस्य पञ्चदशी सोहर्त[२०] सगोत्रस्य (राज्ञो) पुत्रस्य (राज्ञो) वर्धनस्य यूपसप्तको पुण्य व (र्द्धतां भवतु)। (ए० इं० २६, पृ० १२०)

इस लेख में यज्ञोपरांत दानादि का किंचिन्मात्र भी उल्लेख नहीं है।

(ख) बर्नाला से प्राप्त दूसरा यूपस्तंभ कृत वर्ष ३३५ (= ई० २७८) का है, जो अति महत्त्वपूर्ण है। इसमें त्रिरात्र यज्ञ की संख्या पाँच है तथा उनके निमित्त बछड़ों सहित ९० गौओं के दान का उल्लेख है। अंत में विष्णु भगवान् की वंदना की गई है[२१]—

१७—ए० इं० २४, पृ० २५१—२

१८—वही, पृ० २५२

१९—आर्क्यालॉजिकल रिमेन्स ऐंड एक्सकैवेशंस ऐट साँभर, पृ० ३; इन स्तंभों के विवरण के लिये द्रष्ट० ए० इं० २६, पृ० ११८ तथा आगे। राजस्थान के यूपस्तंभों के विषय में ए० इं० में प्रकाशित लेख अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इस संपूर्ण सामग्री के लिये लेखक अपने पूज्य गुरु डा० अल्तेकर का चिरऋणी है।

२०—डा० अल्तेकर के मत से सोहार्त शब्द 'सोहर्तृ' से बना है तथा सोहर्तृ की गणना भारद्वाज कांड के गोत्रों में की गई है (द्रष्ट० ए० इं० २६, पृ० ११६, पा० टि० ४)।

२१—वही, पृ० १२३

कृतेहि १०० + १० + ५ जय (ज्येष्ठ) शुक्लस्य पंचदशी ··(गर्ग ?) त्रिरात्रं ५ यज्ञ (ज्ञा) इष्ट (इष्टा) सव्वत्स (सवत्सा) एव गावा (गावो) दक्षिण्याः (दक्षिण्याः) (णा) दाता (दत्ता) ९०। वष्टः (विष्णुः) प्रियतां धर्मो वर्द्ध (ताम्)।

पाँचों यज्ञों में ९० सवत्सा गौओं के दान से ऐसा प्रतीत होता है कि यज्ञ-कर्ता पर्याप्त धनी नहीं था। उसने १००० की जगह १८ ही गौओं को प्रत्येक यज्ञ में दान कर संतोष कर लिया। इसके विपरीत बडवा यूप में वर्णित सहस्र-गोदान का उल्लेख किया ही जा चुका है। साथ ही विष्णु-अर्चना के प्रसंग में यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि बर्नाला का यज्ञकर्ता वैष्णव था और प्रयाग संग्रहालय के यूपस्तंभों द्वारा प्रस्तुत यज्ञकर्ता शैव मतावलंबी[२२] (ए॰ इं॰ २६, पृ॰ १२१)। बर्नाला के उक्त यूपलेख द्वारा ज्ञात होता है कि यज्ञ-दानादि द्वारा भगवान् विष्णु प्रसन्न होंगे तथा धर्म की वृद्धि होगी।

४—विजयगढ़ यूपस्तंभ

भरतपुर राज्य के अंतर्गत बयाना के समीप विजयगढ़ नामक स्थान से प्राप्त यूपस्तंभ की प्रतिष्ठा कृत वर्ष ४२८ (= ई॰ ३७१) में पुंडरीक[२३] यज्ञ के उपलक्ष्य में की गई थी।

कृतेषु चतुर्षु वर्षशतेष्वष्टविंशेषु ४०० + २० | ८ फाल्गुणबहुलस्य पंचदश्यामेतस्यां पूर्व्वायाम्···पुण्डरीके यूपोऽयं प्रतिष्ठापितस्सुमतिष्ठित राज्य नामधेयेन श्री विष्णुवर्द्धनेन वारिकेण यशोवर्द्धन सत्पुत्रेण।

५—बिचपुरिया यूपस्तंभ

गत वर्ष 'मरुभारती' पत्रिका (पिलानी, फरवरी १९५३, भाग १ संख्या २, पृ॰ ३८-९) में उणियारा ठिकाने (जयपुर राज्य) के 'बिचपुरिया' मंदिर के आँगन में पड़े हुए १० फुट ६ इंच ऊँचे एक अज्ञात यूपस्तंभ का प्रकाशन हुआ है।[२४]

२२—लेख के अंत में इसी प्रकार उत्कीर्ण है—"पुनः पुनः प्रीतिमियान् महेश्वर इति।"

२३—भंडारकर, ब्राह्मी लेखों की सूची सं॰ २; जे॰ फ्लीट, कॉर्पस इन्स्क्रिप्शनम इंडिकेरम, भाग ३, १८८८, कलकत्ता, पृ॰ २५३

२४—इस प्रकाशन का श्रेय डा॰ सत्यप्रकाश श्रीवास्तव को है।

प्राचीन मालव[२५] नगर के इस यूप द्वारा यज्ञानुष्ठान का बोध तो अवश्य होता है परंतु यज्ञविशेष का नाम नहीं ज्ञात हो सका है। इसका लेख इस प्रकार है—

सं ३००+२०+१ फगुन शुक्लपक्षस्य पञ्चदश अहिशर्म अ (ग्नि) होतुस्य धरकपुत्रस्य यूप (स्च पुण्य)-मेधतु।

यहाँ धरक को अग्निहोतृ कहा गया है। डा० सत्यप्रकाश जी इसकी तिथि ३२१ विक्रमीय संवत् मानते हैं।

राजस्थान के पूरबी भाग में उपर्युक्त यूपस्तंभों की प्राप्ति वास्तव में अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। भारतवर्ष के अन्य किसी भूभाग में इतनी संख्या में यूपस्तंभ नहीं मिल सके हैं। पश्चिमी राजस्थान (जोधपुर तथा बीकानेर) से भी एतत्संबंधी सामग्री की प्राप्ति अभी तक तो अज्ञात ही है। संभवतः पुरातत्त्व संबंधी खनन एवं खोज द्वारा मरुप्रदेश के पश्चिमी भाग, विशेषतः दृषद्वती एवं सरस्वती के अर्वाचीन प्रदेश (रंगमहल, सूरतगढ़, हनुमानगढ़ इत्यादि) में गुप्तकालीन वैदिक यज्ञ एवं विचारधारा पर कुछ प्रकाश पड़ सकेगा। इन स्थानों में गुप्तकालीन कृष्ण-भक्ति संबंधी सामग्री[२६] तो प्राप्त हो चुकी है परंतु शिलालेख संबंधी वस्तुएँ सर्वथा अप्राप्त ही हैं।

२५—मालवगण प्रदेश तो अतीव प्राचीन काल से ब्राह्मण विचारधारा का एक प्रमुख केंद्र रहा है। द्रष्ट० 'शोध पत्रिका', वर्ष ४ अंक ३, पृ० ३६-४२

२६—द्रष्ट० मंडोर से प्राप्त तोरण स्तंभ (सरदार संग्रहालय, जोधपुर में सुरक्षित); रंगमहल से प्राप्त गोवर्धनधारण तथा दानलीला संबंधी मृण्मूर्तियाँ (बीकानेर संग्रहालय में सुरक्षित)। राजस्थानी मूर्तिकला में कृष्णभक्ति के विषय में द्रष्ट० लेखक का लेख, शोध-पत्रिका, उदयपुर, जून १९५४।

'सूरसागर' के संदिग्ध पदों का विश्लेषण

[श्री कंठमणि शास्त्री]

प्रस्तावना

हिंदी के समर्थ महाकवि श्री सूरदास कृत 'सूरसागर' में भागवत के आधार पर प्रथम से लेकर द्वादश स्कंध तक के पदों का संकलन किया गया है। कुछ वर्ष पूर्व काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा इसका छोटा संस्करण प्रकाशित हुआ है जो दो खंडों में विभाजित है। इसमें द्वादश स्कंधों में पदों का संग्रह है तथा अंत में दो परिशिष्ट हैं। प्रथम परिशिष्ट में ऐसे पदों का संकलन है जो संपादक की दृष्टि में निश्चित रूप से प्रक्षिप्त नहीं है, जिनके संबंध में संशय और जिज्ञासा को स्थान है; तथा द्वितीय परिशिष्ट में ऐसे पदों का समावेश किया गया है जो निश्चित रूप से प्रक्षिप्त मान लिए गए हैं। इन दोनों के अतिरिक्त संपादक को काँकरोली की प्रति ('काँ') से पदों का एक समूह ऐसा भी उपलब्ध हुआ जो उन्हें स्पष्ट रूप से अप्रामाणिक और गढ़े हुए ज्ञात हुए। उन्हें परिशिष्ट में भी स्थान नहीं मिल सका है।[1]

संपादक के उक्त कथन से स्पष्ट है कि (१) सर्वतः प्रामाणिक प्रति की अनुपलब्धि के कारण ही संपादन के समय प्राप्त प्रतियों के आधार पर मूलता एवं प्रक्षिप्तता का निर्णय करना पड़ा, (२) संदिग्ध पदों में से अधिकांश किसी एक ही प्रति में पाए गए, तथा कुछ का रूप इतना विकृत था कि उन्हें सूरकृत मानने में संकोच होता था, जिस कारण वे प्रक्षिप्त माने गए। प्रामाणिक प्रति के अभाव में ऐसा निर्णय स्वाभाविक ही था।

जैसा ग्रंथ-नाम से ज्ञात होता है, सूरसागर पदों का सागर है। यह तो निश्चित है कि 'सूरसागर' का नामकरण सूरदास जी द्वारा नहीं किया गया—यह

१—सूरसागर (ना० प्र० सभा), द्वितीय खंड, परिशिष्ट पृष्ठ १, सूचना

नाम बाद में प्रचलित हुआ। इसका आधार श्री वल्लभाचार्य (सं० १५३५-८७) तथा तत्पुत्र श्री विट्ठलेश प्रभुचरण (श्री गुसाँईं जी, सं० १५७२-१६४२) के सूर-विषयक कथन हैं। श्री वल्लभाचार्य उन्हें 'सागर' कहते थे। श्री गुसाँईं जी ने एक बार कहा था—"ये पुष्टिमार्ग में दोइ सागर भए। एक तो सूरदास और दूसरे परमानंददास सो तिनको हृदय अगाध, रस, भगवल्लीला रूप रत्न जहाँ भरे हैं।"[2]

साधारणतया 'सागर' के विशाल अगाध तल में ऐसे सभी रत्नों का संग्रह हो जाना स्वाभाविक है जो रत्नाकर की अपनी उपज हैं, किंवा इतस्तः अजस्र प्रवहणशील धाराओं द्वारा प्रवाहित होकर उसमें आ जाते हैं। वे भास्वर-अभास्वर, अनर्घ-महार्घ, स्वल्प-महान् सभी प्रकार के होते हैं। यही बात सूर-'सागर' के लिये भी चरितार्थ होती है। प्रस्तुत अनंत काव्य-सागर में सभी प्रकार के पद-रत्नों का समावेश है। चतुर जौहरी उनका विश्लेषण और वर्गीकरण करने को मुक्तहस्त है।

विभिन्न स्थानों में विविध भावनाशील व्यक्तियों द्वारा विभिन्न पाठभेदों से युक्त सूर कृत पदों का संग्रह जब भी किया गया हो, तब अन्य दूसरे कवियों और विशेषतः समसामयिक अष्टछापी दो तीन विशिष्ट भक्तों के समानार्थक किंवा समान शैली के पदों का उसमें समाविष्ट हो जाना स्वाभाविक था। सम-सामयिकता, सतीर्थता, समान-मार्गवर्तित्व एवं समान निष्ठा तथा समान वर्ण्य विषयक वैशिष्ट्य के कारण अष्टछाप के कवियों में पारस्परिक असमानता एक प्रकार से दूर-सी हो गई थी। वे स्व-स्व वैशिष्ट्य रखते हुए भी तत्तदाकारता में निमग्न हो जाते थे। उनकी स्थिति पारस्परिक प्रभाव और अप्रभाव दोनों के मध्य की थी। इच्छा-अनिच्छा से वे किसी अतर्क्य हृदय-संवेद्य रस की ओर बहे चले जाते थे। संगीत और काव्य की अनंत धारा में उनके आत्मविभोर कंठों से निकली हुई पद-रचना यदि कहीं जाकर आपस में टकरा जाती थी तो आश्चर्य क्या? उनका तर-तम भाव परिज्ञेय और अपरिज्ञेय दोनों हैं।

सूरकृत पदों में भी पूर्वापर संबंध, रचना-काल की विभिन्नता, मौखिक प्रवचन एवं समयानुरूप सद्य रचना के कारण तारतम्य का निर्णय किया जाना

२—'अष्टछाप'-वार्ता (विद्या-विभाग, कांकरोली) पृ० ४४, तथा १६८; आगे भी 'अष्टछाप' का पृष्ठ-निर्देश विद्याविभाग के ही संस्करण से किया गया है।

अस्वाभाविक नहीं, और इसी कारण, विशेषतया तत्सामयिक संगृहीत प्रति के अभाव में, मूल एवं प्रक्षिप्त पदों का विभाजन अति दुष्कर है। फिर भी अन्वेषण के लिये पर्याप्त अवकाश है तथा एतदर्थ गंभीर व्यापक अध्ययन एवं गवेषणा की अपेक्षा है।

हिंदी साहित्य के ग्रंथों की प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों का जब तक पता लगता रहेगा तब तक कुछ न कुछ नवीन तथ्य उपलब्ध होते ही रहेंगे, साथ ही प्राचीन धारणाओं, निर्णयों एवं मतों में संशोधन भी। सूर के अन्य समसामयिक कवियों की रचनाओं के वर्गीकरण तथा निकटतम प्रामाणिक प्रतियों के अध्ययन से यह प्रयास चिरकाल तक चलता रहेगा। अस्तु, प्रस्तुत अन्वेषण के प्रयासरूप दो विशिष्ट प्रतियों (जिनका परिचय आगे दिया जायगा) के आधार पर यहाँ सूरसागर के संदिग्ध पदों का एक विश्लेषण विद्वज्जन के समक्ष विचारार्थ प्रस्तुत किया जाता है।

रचना का आधार एवं पदों की संख्या

प्रस्तुत विश्लेषण के पूर्व उसके संबंध में एक दृष्टिकोण सम्मुख रखना अपेक्षित है। इस संबंध मे दो बातें विचारणीय हैं—एक तो सूर की रचना का आधार; दूसरे सूरसागर के पदों की कथित संख्या।

सूरदास की वार्ता में लिखा है कि जब वे श्री वल्लभाचार्य की शरण में आए तब महाप्रभु ने "हौं पतितन कौ टीकौ" आदि पदों के रूप में घिघियाने की अपेक्षा कुछ भगवल्लीला के गान का उन्हें उपदेश दिया। सूरदास के प्रार्थना करने पर कि "मैं भगवल्लीला समझता नहीं हूँ", श्री महाप्रभु ने उन्हें दीक्षा देकर "दशम स्कंध की अनुक्रमणिका" सुनाई। इस अनुक्रमणिका के श्रवण से सूर के हृदय में लीला का स्मरण हो आया और वे भगवद्गुणगान में प्रवृत्त हो गए। सूर के, हृदय में लीला-स्फूर्ति रूप नंदालय के पद सुनाने के अनंतर महाप्रभु ने योग्यता देखकर उन्हें 'पुरुषोत्तम-सहस्रनामावली' सुनाई, जिससे उनको भागवत की कथा की स्फूर्ति हुई। परिणामस्वरूप उन्होंने भागवत के प्रथम से लेकर द्वादश स्कंध पर्यंत वर्णित भगवच्चरित्र संबंधी पदों का गान किया।

प्रस्तुत पदरचना के संबंध में बारह स्कंधों की पदरचना का उल्लेख वार्ता की सबसे प्राचीन, सं० १६९७ वाली प्रति में नहीं है। यह पाठ 'भावप्रकाश' वाली

वार्ता-प्रति का है, जो लगभग वार्ता के तृतीय संस्करण के समय की है।[3] इससे यह सिद्ध होता है कि स्कंधात्मक पदरचना विषयक कथन मौलिक नहीं है। सूर ने निज जीवन में अपने पदों को इस रूप में संकलित या ग्रथित नहीं किया।

सूरसागर का वर्तमान रूप बाद का है। एक बात और। सूर कृत पदों के कई संग्रह जो प्राचीन हैं, पुष्टि-मार्गीय सेवा-पद्धति के अनुरूप नित्य-क्रम, उत्सव-क्रम, दीनता और आश्रय के रूप में मिलते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण की बाललीला आदि के पद लीला संबंधी पद हैं जिन्हें दशम स्कंध का रूप प्राप्त हुआ है। अवशिष्ट स्कंधों के पद यों ही गणना में न्यून हैं, और उनमें जो मौलिक हैं उनका समावेश उक्त विषयों में हो जाता है। अवशिष्ट पद ऐसे हैं जो निश्चित स्कंधानुसार प्रचलित वर्णन-शृंखला की टूटी कड़ी को जोड़ने के लिये रचे गए प्रतीत होते हैं। ऐसे पद निश्चित रूप से अप्रामाणिक एवं प्रक्षिप्त हैं। संक्षेपतः सभी पदों की रचना का आधार इस प्रकार निर्धारित किया जा सकता है—

(१) प्रथम से नवम स्कंध तक के तथा एकादश और द्वादश स्कंध के प्रासंगिक पदों का मूलाधार 'पुरुषोत्तम-सहस्र-नामावली' है, जिसमें श्रीकृष्ण के लीलात्मक नामों का संकलन है।

(२) भागवत के हृदय और निरोध-लीला रूप दशम स्कंध के पदों का आधार दशम स्कंध की अनुक्रमणिका और सुबोधिनी टीका है।

(३) उक्त दो ग्रंथों की सीमा में न आनेवाले पदों का आधार अन्य स्कंधों की सुबोधिनी टीका है, जिसमें लौकिक और परमत भाषा के आधार पर व्यावहारिक एवं सैद्धांतिक विवेचन किया गया है।

भागवत-टीका सुबोधिनी की रचना के पूर्व श्री वल्लभाचार्य ने भागवत निबंध की रचना की थी। इसमें भागवत के अर्थ के संबंध में विचार किया गया है। भागवतार्थ यद्यपि सात प्रकारों में विभक्त माना गया है[4] किंतु उसकी एकवाक्यता पर अधिक बल दिया गया है। उक्त सात प्रकार इस तरह हैं—

(१) शास्त्रार्थ—भागवत शास्त्र का संपूर्ण अर्थ।

३—द्रष्ट० अष्टछाप वार्ता, पृ० १९–२७

४—भागवत निबंध, कारिका २

(२) स्कंधार्थ—भागवत के प्रत्येक स्कंध का अर्थ और उसकी शास्त्रार्थ के साथ एकवाक्यता।

(३) प्रकरणार्थ—स्कंधीय प्रकरणों का अर्थ और उसका स्कंधार्थ के साथ समन्वय।

(४) अध्यायार्थ—प्रत्येक अध्याय का अर्थ और उसका प्रकरणार्थ, स्कंधार्थादि के साथ समीकरण।

(५) वाक्यार्थ—श्लोकों का अर्थ और उसका अन्य अर्थों के साथ समन्वय।

(६) पदार्थ—प्रत्येक पद का अर्थ।

(५) अक्षरार्थ—अक्षरार्थ।

उक्त अर्थ-विभाजन की मौलिक गूढ़ता पर विशेष न कहकर यहाँ संक्षेप में इतना ही कहना पर्याप्त है कि भागवतार्थ निबंध में पूर्वोक्त अर्थचतुष्टयी का और सुबोधिनी में अवशिष्ट अर्थत्रयी का विवेचन किया गया है।[५] इन्हें समझकर ही भागवतार्थ किया जाना चाहिए। फलतः सूर के पदों का विश्लेषण, सामंजस्य और औचित्य-निर्णय उक्त चार ग्रंथों के आधार पर किया जा सकता है। ऐसा होने पर ही प्रक्षिप्त अर्थोंवाले पदों की कुंजी हाथ लग सकती है। श्री वल्लभाचार्य-निर्मित भागवतार्थ संबंधी उक्त ग्रंथों पर दृष्टि डालने से यह स्वीकार करने में अधिक सौकर्य होता है कि भागवत के जिस स्कंध की सुबोधिनी की रचना हुई है उसी स्कंध की लीलाओं पर सूरदास जी ने अधिक पद-रचना की है तथा जिनपर सुबोधिनी का निर्माण नहीं हुआ है उन्हीं स्कंधों के पद अधिक प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं। आगे यह स्पष्ट हो जायगा।

आचार्यश्री ने भागवत के केवल इन्हीं स्कंधों पर सुबोधिनी टीका लिखी है—प्रथम स्कंध (पूर्ण), द्वितीय स्कंध (पूर्ण), तृतीय स्कंध (पूर्ण), दशम स्कंध (पूर्ण), एकादश स्कंध का कुछ अंश।

सूरसागर के संपूर्ण पदों की संख्या के संबंध में हिंदी साहित्य में अभी तक एक भ्रम फैला हुआ है। प्रचलित वार्ताओं के आधार पर पदों की संख्या एक लाख और सवा लाख भी मानी जाती है। पर यह प्रामाणिक नहीं है।

५—प्र० स्कं० सुबोधिनी, प्र० अ० कारिका।

कुछ विद्वान् 'एक लक्ष पद-बंध'—सूर की इस उक्ति के आधार पर पदों की संख्या एक लाख मानते हैं। प्रचलित प्रणाली के अनुसार बत्तीस अक्षरों के एक अनुष्टुप् छंद को 'ग्रंथ' रूप में माना जाता है। प्राचीन संग्रहालयों में अधिकांश ऐसी हस्तलिखित प्रतियाँ मिलेंगी जिनके अंत में अमुक 'ग्रंथ'-संख्या का उल्लेख है। 'ग्रंथ' से वह लेखन-पद्धति सूचित होती है जिसमें लेखक को प्रतिशत श्लोक (ग्रंथ) के पारिश्रमिक रूप में द्रव्य दिया जाता था। प्राचीन लेखन-प्रणाली में प्रत्येक पत्र की पंक्तियाँ समान होती थीं और अधिकांशतः उनमें समान संख्या में ही अक्षर होते थे, जिससे लेखन-कार्य की गणना सरलता से हो जाती थी। इस दृष्टि से यह सोचा जा सकता है कि एक लाख पद से तात्पर्य एक लाख ग्रंथ या श्लोक है और सूरदास जी ने एक लाख अनुष्टुप् छंदों के परिमाण में रचना प्रस्तुत की थी। परंतु यह एक विसंवाद है कि इस संख्या का प्रयोग उनकी सभी रचनाओं के लिये नहीं, प्रत्युत केवल 'सूरसागर' के पदों के लिये किया जाता है। उपलब्ध सूरसागर की प्रतियों की उक्त प्रणाली से गणना करने पर यह संख्या एक भ्रम ठहरती है। वस्तुतः सूरदास की सब रचनाएँ मिलकर भी इस संख्या की पूर्ति नहीं कर सकतीं। अतः केवल सूरसागर को एक लाख या सवा लाख पदों का संग्रह मानना शुद्ध अज्ञान है।

तब यह विचारणीय है उक्त एक लक्ष पद-बंध' का रहस्य क्या है ?

कोश में 'लक्ष' शब्द का अर्थ 'व्याज', 'अपदेश', 'शरव्य' और 'लाख संख्या' माना गया है। 'लक्ष्' आलोचनार्थक धातु से इस शब्द को सिद्धि होती है। अतः एक ही व्याज या मिष से रचित पदों को 'एक लक्ष पद-बंध' कहने से सभी संगति बैठ जाती है। सूरदास की वार्ता से इसपर अच्छा प्रकाश पड़ता है। वहाँ लिखा है—

तब वा बेर श्रीगुसाइँजी के सेवक सब पास ठाढे हे। सो चत्रभुज दास जी ने सूरदास जी सों कह्यो, जो सूरदास जी! तुमने बोहोत भगवद जस वर्णन कियो। सहस्रावधि पद किए। परि कछु श्री आचार्य जी महाप्रभुन को हू वर्णन कियो है? तब सूरदास जी बोले जो मैं तो यह जस सब श्री आचार्य जी महाप्रभुन को ही कियो है। कछु न्यारो देखूं न्यारो करूं। परि तेरे कहे तें कहत हो। (सो या कीर्तन के अनुसार सगरे कीर्तन जानियो) या भांति कहिके सूरदास जी ने एक नयो पद करिके गायो। सो पद—राग केदारो। भरोसो दृढ इन चरनन केरो०।[६]

६—'अष्टछाप' (सं० १९६७ की वार्ता और भावप्रकाश, कांकरोली), पृ० १०५

रहस्य यह है कि अंतिम समय तक सूरदास जी ने अपने गुरुदेव श्री वल्लभाचार्य के संबंध में एक भी पद का गान नहीं किया। वे स्वकीय शुद्ध अद्वैत की भावना से हरि और गुरु में कोई भेद नहीं समझते थे, जैसा कि चत्रभुज दास के प्रश्न पर उनके उपर्युक्त उत्तर से भी स्पष्ट है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि सूरदास जी ने एक लाख पदों की नहीं, एक ही लक्ष पर पदों की रचना की थी। यों 'सहस्र' और 'लक्ष' शब्द बहु-संख्यावाची भी है।

शुद्धाद्वैत पुष्टिमार्ग के मुख्य स्थान नाथद्वारा काँकरोली में जहाँ तत्कालीन सभी प्रकार की वस्तुओं और ग्रंथों का संग्रह है, सूर कृत रचनाओं का कोई ऐसा संग्रह उपलब्ध नहीं जो उक्त 'लक्ष' की सिद्धि कर सकता हो। फलतः यह मान लेने में प्रामाणिक दृष्टि से कोई विप्रतिपत्ति नहीं आती कि सूरसागर के पद सवा लाख या एक लाख नहीं हैं।

एक बात और है। सूरदास जी की वार्ताओं में कुछ प्रसंग ऐसे मिलते हैं जिनमें लिखा है कि सूरदास जी ने सवा लाख कीर्तन-रचना का संकल्प किया था पर वे अंतिम समय के पूर्व एक लाख पदों का ही निर्माण कर सके थे। उनकी मानसिक उद्विग्नता को देखकर श्रीनाथ जी ने 'सूर श्याम' छाप से पचीस हजार पदों का निर्माण किया और कीर्तन के चौपडा में यत्र तत्र उनका समावेश कर दिया। इस प्रकार सवा लाख पद-रचना का सूर कृत संकल्प पूर्ण हो गया। परंतु अन्य बहुत से प्रसंगों की भाँति यह प्रसंग भी ८४ वार्ता की सबसे प्राचीन प्रति (लेखन-काल सं० १६९७) में नहीं है, अतः प्रक्षिप्त है।[७] इस प्रकार की रचना का प्रसंग श्री हरिरामजी कृत 'भावप्रकाश' में भी नहीं मिलता। अतः किसी भी प्रमाण वा तर्क से एक लाख पद-रचना का कथन सिद्ध नहीं होता। इस प्रकार का कथन केवल सूरदास की महत्ता सिद्ध करने के लिये किया जाता है, जो उन जैसे रससिद्ध कवि के लिये स्वतः सिद्ध है।

इसमें प्रचलित पाठ सं० १६९७ की वार्ता-प्रति का है जो उपलब्ध वार्ता-प्रतियों में सबसे प्राचीन और प्रामाणिक है। कोष्ठांतर्गत विशेष पाठ प्रचलित वार्ता का है, जो बाद में जोड़ा गया है। प्रचलित वार्ताओं में 'सहस्रावधि' के स्थान पर 'लक्षावधि' पाठ मिलता है जो प्रामाणिक नहीं है।

७—द्रष्ट० 'अष्टछाप' वार्ता, पृ० ९४

सूरसागर की प्राचीन प्रतियाँ

प्रस्तुत लेख में पदों के संबंध में 'सूरसागर' की कुछ मूल प्रतियों का संकेत दिया जायगा। ना० प्र० सभा द्वारा प्रकाशित सूरसागर में जिन उपलब्ध प्राचीन प्रतियों का आधार लिया गया है उनका परिचय प्राप्त कर लेना भी आवश्यक है, अतः उसे यहाँ दे देना उचित प्रतीत होता है। यह परिचय सभा के बृहत् संस्करण से दिया जा रहा है, जो १४३२ पदों तक ही मुद्रित हो पाया था। इसमें दशम स्कंध में गोवर्धन-पूजा तक ही पदों का समावेश है। अस्तु। वे प्रतियाँ इस प्रकार हैं—

संख्या	संकेत	विवरण
१	(वे)	वेंकटेश्वर प्रेस बंबई से सं० १९६४ मे मुद्रित।
२	(ना)	ना० प्र० सभा की सं० १८८० की लिखित प्रति।
३	(स)	ना० प्र० सभा की सं० १९१६ की लिखित प्रति।
४	(ल)	लखनऊ के स्व० श्री श्यामसुंदरदास जी अग्रवाल की सं० १८६६ में लिखित प्रति।
५	(शा)	शाहजहाँपुर के ग्राम पवाया के पं० लालामणि मिश्र वैद्य की प्रति
६	(का)	कालाकाकर राज्य-पुस्तकालय की सं० १८८९ मे लिखित प्रति।
७	(वृ)	वृंदावन वाली सं० १८१३ में लिखित प्रति।
८	(ना२)	ना० प्र० सभा काशी की द्वितीय प्रति। सं० १९०९ में लिखित।
९	(के)	श्री केशवदास जी शाह, काशी की प्रति, सं० १७५३ में लिखित। स्वल्पोपयुक्त।
१०	(कृ)	श्री राय कृष्णदास, बनारस की प्रति, सं० १९२६ में लिखित।
११	(गो)	बाबू गोकुलदास जी, काशी की प्रति।
१२	(आ)	श्री आनीमल खानचंद, काशी की प्रति, सं० १९०२ में लिखित।
१३	(स२)	ना० प्र० सभा, काशी की प्रति।

संख्या	संकेत	विवरण
१४	(क)	कलकत्ता और लखनऊ दोनो स्थानो में सं० १८८९ में मुद्रित ।
१५	(जौ)	जौनपुर की प्रति, पं० गणेशबिहारी मिश्र (मिश्रबंधु) से प्राप्त, सं० १८५४ में लिखित ।
१६	(का)	काकरोली विद्याविभाग की प्रति, सं० १६१२ में लिखित ।
१७	(पू)	श्री पूर्णचंद्र जी नाहर, कलकत्ता की प्रति ।
१८	(रा)	श्री राय राजेश्वरबली, दरियाबाद की फारसी में सं० १८८२ में लिखित प्रति ।
१६	(श्या)	बाबू श्यामसुंदरदास जी से प्राप्त, सभा की प्रति ।
२०	(राग कल्पद्रुम)	बंगीय साहित्य परिषद्, कलकत्ता से प्रकाशित । इसमें सूरदास के बहुत से पद मिलते हैं ।

उपर्युक्त प्रतियों के परिचय से विदित होता है कि सं० ९ वाली (के) प्रति ही इनमें सबसे अधिक प्राचीन है जिसका लेखन-काल सं० १७५३ है, पर इसका बहुत थोड़ा उपयोग हो सका है । शेष सभी प्रतियाँ सं० १८१० के बाद की लिखित हैं । अतः सूर कृत पदों की वास्तविकता के परिज्ञान में इनसे कम ही सहायता मिल सकती है ।

अब काँकरोली विद्या-विभाग में उपलब्ध 'सूरसागर' की हस्तलिखित प्रतियों का भी कुछ परिचय दे देना आवश्यक है जिनसे पदों के विश्लेषण में बहुत कुछ साहाय्य मिल सकता है । वे इस प्रकार हैं—

संख्या	विवरण	बंध-संख्या
१	१ से १२ स्कंध तक (अनुक्रम सहित) । अपूर्ण । पत्र ४०१, पंक्ति २२, आकार १२ × ७	७-५
२	दशम स्कंध । पूर्ण । पत्र २३१, पंक्ति २३, आकार १०॥ × ९	६३-५
३	स्कंध १ से १२ तक । पूर्ण । पत्र २२९, पंक्ति ३४।, आकार १६। × १४, लेखन-काल सं० १६१२ (ना० प्र० सभा द्वारा इसी प्रति का उपयोग 'का' संकेत से किया गया है) ।	३६ १

संख्या	विवरण	बंध-संख्या
४	दशम स्कंध, लीला-पद संख्या १६१० । पूर्ण । पत्र ५४६, पंक्ति १३, आकार ६ × ७॥।	५८-३
५	अपूर्ण, खंडित, जल से भींगी हुई । पत्र ५०५, पंक्ति ११, आकार १०॥ × ६।, पद्य ३२५० के लगभग।	६१-१
६	अपूर्ण । पत्र १३४, पंक्ति ३३, आकार १७॥। × ८।, लेखन-संवत् १७७६	८१-२
७	अपूर्ण, खंडित । आकार ४॥ × ७ मथुरेश पुस्तकालय बंध-संख्या	१५-१ ग
८	अपूर्ण । मथुरेश पुस्तकालय बंध संख्या	१५-४ ग
९	अपूर्ण, खंडित, जीर्ण प्रति । प्राचीन और अतिशय शुद्ध । लेखन-काल सं० १६६० से १६९० के भीतर ।	१०-६

उक्त अंतिम बंध में सूरदास के पदों के साथ परमानंददास और चतुर्भुजदास के भी पदों का संग्रह है । पुस्तक आदि-अंत में खंडित है, अतः सूरसागर का आदि भाग और अष्टछाप के शेष कवियों का संग्रह नहीं मिल सका, अन्यथा पदों का स्पष्टीकरण सुंदर रीति से हो जाता । एक ही लेखक की एक ही समय एक ही आकार में लिखी अष्टछाप के पदों की ऐसी प्रति अन्यत्र उपलब्ध नहीं होती । इस लेख में पदो की प्रामाणिकता के प्रसंग में इसी प्रति (बंध सं० १०-६) का उल्लेख किया जायगा ।

परमानंदसागर की प्राचीन प्रति

इस लेख में सूरसागर के पदों पर विचार के प्रसंग में परमानंद कृत पदों का भी उल्लेख किया गया है। उसके आधार रूप में परमानंदसागर की 'ख' प्रति का उपयोग किया गया है जिसका परिचय निम्नलिखित है ।

स० भं० बंध ५७ पु० ४ (हिंदी विभाग), नाम 'परमानंदसागर', आकार १० × ७ है । यह ग्रंथ पत्र-संख्या ९ से १५३ तक लिखा गया है । प्रारंभ और अंत के पत्रों में अन्य अष्टछापी कवियों के पदों का संग्रह है । पुस्तक अत्यंत जीर्ण, शीर्ण, अति प्राचीन, पानी में भीगी, दीमक खाई हुई है, परंतु मध्य भाग बच गया है और सुरक्षित अवस्था में रख दिया गया है । पत्र-संख्या के अंक जहाँ-तहाँ बच

गए हैं। अधिकांश ऊपर की दो पंक्तियाँ अस्पष्ट और नष्टप्राय हो गई हैं, जिससे कहीं कहीं विषय और राग का नाम नहीं मिलता।

इस प्रति में पदों का संग्रह सांप्रदायिक परंपरा के अनुसार 'वर्षोत्सव-संग्रह'[८] पद्धति से किया गया है और ग्रंथारंभ पत्र ९ पर जन्म-समय के पदों से होता है। इसमें पत्र १५३ पर 'राम-जयंती' तक ही पद मिलते हैं, अन्य विषय के कीर्तन ग्रंथ के अंतिम अंश के साथ नष्ट हो गए हैं।

अपूर्ण और खंडित होने के साथ इस पुस्तक में एक विशेषता यह है कि इसमें प्रत्येक विषय पृथक् पत्र से प्रारंभ होता है और विषय-समाप्ति पर अवशिष्ट पत्र खाली छोड़ दिया गया है तथा वहाँ बीच में यत्र-तत्र कई पत्र रिक्त छोड़ दिए गए हैं, यद्यपि उनपर पत्र संख्या पूर्णानुक्रम से पड़ी हुई है। ऐसा अनुमान होता है कि यह प्रति किसी प्राचीनतर प्रति की प्रतिलिपि है, जो अधिकांश नष्टभ्रष्ट हो गई थी। किसी अन्य प्रति से विषय-पूर्ति के लिये स्थान रिक्त छोड़े गए हैं। इसी लेखन-शैली और समाक्षर में लिखी और भी एक प्रति परमानंदसागर की है, जो बंध सं० ४५ पु० १ पर विद्यमान है। इसमें रिक्त स्थानों में अधिकतया बाद में पद लिख लिए गए हैं।

प्रस्तुत ग्रंथ की लिपि सुवाच्य, सुंदर और शुद्ध है। ग्रंथ लिख जाने के बाद उसी लिपिकार ने उसका संशोधन किया है और कहीं कहीं छूटी हुई पंक्ति खाली स्थान में बाद में लिखी है।

इस लिपि का, जैसा पहले कहा जा चुका है, बंध सं० ४।१ की लिपि से सर्वथा साम्य है। यहाँ विशेष न कहकर इतना कहना पर्याप्त है कि उक्त प्रति का

८—शुद्धाद्वैत संप्रदाय के कीर्तन भाद्रपद की जन्माष्टमी से प्रारंभ होकर श्रावणी रक्षा-बंधन तक समाप्त हो जाते हैं—इसी का नाम 'वर्षोत्सव संग्रह' है। पुष्टि-मार्गीय सेवा-पद्धति में कीर्तन-संग्रह इन विभागों में संकलित होते हैं—(१) वर्षोत्सव पद-संग्रह; (२) नित्य-कीर्तन-संग्रह, जिसमें नित्य के क्रम मंगला, शृंगार, ग्वाल, राजभोग, संध्या आरती और शयन के पद होते हैं; (३) दीनता आश्रय के पद। प्रस्तुत पद्धति में प्रायः एक ही कवि के पदों का संग्रह होता है। इसके अतिरिक्त एक दूसरी भी संग्रह-पद्धति है जिसमें एक ही राग में गाए जानेवाले अधिकांश कवियों के पदों का संकलन किया जाता है। हिंदी के जो विद्वान् इस परंपरा से अनवबुद्ध रहते हैं वे सभी पदों का संमिश्रण कर डालते हैं।

लेखन-समय सं० १६४२ से १६८० के भीतर है,[९] अतः परमानंदसागर की 'ख' प्रति भी उतनी ही प्राचीन है।

पदों का सम्मिश्रण

उक्त दोनो महाकवियों के पदों में बहुत सम्मिश्रण हो गया है। परमानंददास कृत कई पद 'सूरदास' की छाप से संगृहीत हो गए हैं। एक प्रकार से इनका पृथक्करण कठिन है, कारण कि दोनों कवि समर्थ और सतीर्थ थे, दोनों एक ही आराध्य के संमुख एक ही निर्धारित सेवा-प्रणाली से कीर्तन-गान की सेवा करते थे और दोनों समकालीन, एक ही प्रदेश के निवासी एवं समान-भाषाभाषी थे। इस परिस्थिति में उन दोनों के पदों में जहाँ भाषा और भाव की एकरूपता आ सकती थी वहाँ कीर्तनों की प्रारंभिक तुकों का साम्य भी हो सकता था। ऐसी बहुत सी तुकें जो दोनों कवियों के कीर्तनों मे मिलती हैं, इस लेख में छोड़ दी गई हैं,[१०] कारण कि आगे चलकर उनका वर्ण्य विषय पृथक् रूप में प्रवाहित हो जाता है। यहाँ केवल समान रूप से अथवा पाठभेद से आनेवाले समान पदों का ही उल्लेख किया जायगा।

सूरसागर के पदों और तुकों में जहाँ समान सेवा-पद्धति के कारण समानता आ गई है वहाँ अनेक पदों की तुकों में राग, ताल, लय एवं स्थान-स्थान की कीर्तन-शैली के भेद से अथवा लेखकों के प्रमाद से रूपांतर वा पाठभेद भी हो गया है। फल-स्वरूप जहाँ सूरसागर की विभिन्न प्रतियों में उसके स्वकीय पदों में ही भिन्नता का भास होता है वहाँ अन्य अष्टछापी कवियों के पदों से भी उनका मिलान नहीं हो पाता। यहाँ इस प्रकार के रूपांतर के कुछ कारणों का निर्देश कर देना उचित होगा—

(१) संबोधन के आधिक्य से। यथा, 'तनक-सो वदन तनक-से चरन' [७६८][११] पाठ का रूप बंध १०।६ में 'माधौ! तनक-सो वदन तनक-से चरन' (पत्र

९—द्र० 'सुधा' (लखनऊ, पौष सं० १९९८) में प्रकाशित लेखक का लेख—'परमानंददास जी और उनका परमानंदसागर'।

१०—लेखक द्वारा संपादित, संप्रति अप्रकाशित, 'परमानंदसागर' की पांडुलिपि में यथास्थान इनका निर्देश किया गया है।

११—पद-प्रतीक के आगे इस प्रकार के कोष्ठक के भीतर की संख्या ना० प्र० सभा द्वारा प्रकाशित सूरसागर की क्रमिक पद-संख्या है।

२९४ सं० २५) है तथा 'माई री ! मुरली अति गरबु' [१२७१] का बंध १०१६ में 'मुरली अति गरबु' (पत्र ३४८ सं० २५) पाठ है।

(२) संबोधन के रूपांतर से। यथा, 'सखी री ! माधोहिं दोष न दीजै' [१९३०] पाठ का रूप बंध १०१६ में 'माई ! माधौ दोष न दीजै' (पत्र ३४५ सं ७) है तथा 'जसोदा ! तेरौ चिरजीवौ गोपाल' [७५६] का बंध १०१६ में 'रानी तेरौ चिरजीवौ गोपाल' पाठ है।

संबोधन का निर्णय उसके प्रकरण के स्वरूप को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए। 'उलाहना' के पद माता यशोदा को संबोधित कर कहे जायँगे, तो आसक्ति के पद अधिकांश सखियों में परस्पर कहे जायँगे। रूप-वर्णन प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों रूपों में किया जायगा, अतः इसका निर्णय कि संबोधन कौन कहाँ उपयुक्त है, पुष्टि मार्गीय सेवा-प्रणाली के आधार पर विषय के अनुसार किया जाना चाहिए।

(३) शब्दों की अस्तव्यस्तता से। यथा—'जा दिन मोहन बनहिं न जात' [३८२०] का पाठ बंध १०१६ में 'मोहन जा दिन बनहिं न जात' (पत्र ३४४ सं० २७) है।

(४) विशेषण के आधिक्य से। यथा—'पतित पावन जानि सरन आयौ' [११९] का १०१६ में 'महापतित पावन जानि सरन आयौ' (पत्र ३८९ सं० २२) पाठ है।

(५) पर्यायांतर से—जहाँ एक ही शब्द के अलग अलग पर्याय दिए गए हों। यथा—'हरि बिनु कोऊ न काम न आयौ' [३७३] का १०१६ में 'प्रभु बिनु कोऊ काम न आयौ' (पत्र ३९१ सं० ४२) पाठ है। 'मृगनैनी नैननि अंजनु दै' [३४२३] का १०१६ में 'मृग लोचनि नैननि अंजनु दै' [पत्र ३५० सं० ७] पाठ है। इसी प्रकार सखी, आली आदि शब्द हैं।

(६) शब्दाधिक्य से—जहाँ प्रारंभ या मध्य में कोई अधिक शब्द जोड़ा गया हो। यथा—'माधौजू ! गज ग्राह तें छिडायौ' [४३०] का १०१६ में 'माधौ ! गज ग्राह तें छिडायौ' (पत्र ३८६ सं० ३) पाठ है।

(७) आद्य-स्वरांतर से—जहाँ प्रारंभिक स्वर का परिवर्तन हुआ हो। यह अधिकांश गायक की इच्छा पर आधारित है। इस स्वर-परिवर्तन से पदानुक्रमणिका में भी अंतर आ जाता है। यथा-एरी, अरी, ओरी, अहो आदि।

सूरसागर की प्राचीन प्रतियाँ

प्रस्तुत लेख में पदों के संबंध में 'सूरसागर' की कुछ मूल प्रतियों का संकेत दिया जायगा। ना० प्र० सभा द्वारा प्रकाशित सूरसागर में जिन उपलब्ध प्राचीन प्रतियों का आधार लिया गया है उनका परिचय प्राप्त कर लेना भी आवश्यक है, अतः उसे यहाँ दे देना उचित प्रतीत होता है। यह परिचय सभा के बृहत् संस्करण से दिया जा रहा है, जो १४३२ पदों तक ही मुद्रित हो पाया था। इसमें दशम स्कंध में गोवर्धन-पूजा तक ही पदों का समावेश है। अस्तु। वे प्रतियाँ इस प्रकार हैं—

संख्या	संकेत	विवरण
१	(वे)	वेंकटेश्वर प्रेस बंबई से सं० १९६४ में मुद्रित।
२	(ना)	ना० प्र० सभा की सं० १८८० की लिखित प्रति।
३	(स)	ना० प्र० सभा की सं० १९१६ की लिखित प्रति।
४	(ल)	लखनऊ के स्व० श्री श्यामसुंदरदास जी अग्रवाल की सं० १८६६ में लिखित प्रति।
५	(शा)	शाहजहाँपुर के ग्राम पवाया के पं० लालामणि मिश्र वैद्य की प्रति
६	(का)	कालाकांकर राज्य-पुस्तकालय की सं० १८८९ में लिखित प्रति।
७	(वृ)	वृंदावन वाली सं० १८१३ में लिखित प्रति।
८	(ना~२~)	ना० प्र० सभा काशी की द्वितीय प्रति। सं० १९०९ में लिखित।
९	(के)	श्री केशवदास जी शाह, काशी की प्रति, सं० १७५३ में लिखित। स्वल्पोपयुक्त।
१०	(कृ)	श्री राय कृष्णदास, बनारस की प्रति, सं० १९२६ में लिखित।
११	(गो)	बाबू गोकुलदास जी, काशी की प्रति।
१२	(खा)	श्री खानीमल खानचंद, काशी की प्रति, सं० १९०२ में लिखित।
१३	(स~२~)	ना० प्र० सभा, काशी की प्रति।

संख्या	संकेत	विवरण
१४	(क)	कलकत्ता और लखनऊ दोनों स्थानों में सं० १८८९ में मुद्रित।
१५	(जौ)	जौनपुर की प्रति, पं० गणेशविहारी मिश्र (मिश्रबंधु) से प्राप्त, सं० १८५४ में लिखित।
१६	(कां)	कांकरोली विद्याविभाग की प्रति, सं० १९१२ में लिखित।
१७	(पू)	श्री पूर्णचंद्र जी नाहर, कलकत्ता की प्रति।
१८	(रा)	श्री राय राजेश्वरबली, दरियाबाद की फारसी में सं० १८८२ में लिखित प्रति।
१९	(श्या)	बाबू श्यामसुंदरदास जी से प्राप्त, सभा की प्रति।
२०	(राग कल्पद्रुम)	बंगीय साहित्य परिषद्, कलकत्ता से प्रकाशित। इसमें सूरदास के बहुत से पद मिलते हैं।

उपर्युक्त प्रतियों के परिचय से विदित होता है कि सं० ९ वाली (के) प्रति ही इनमें सबसे अधिक प्राचीन है जिसका लेखन-काल सं० १७५३ है, पर इसका बहुत थोड़ा उपयोग हो सका है। शेष सभी प्रतियाँ सं० १८१० के बाद की लिखित हैं। अतः सूर कृत पदों की वास्तविकता के परिज्ञान में इनसे कम ही सहायता मिल सकती है।

अब काँकरोली विद्या-विभाग में उपलब्ध 'सूरसागर' की हस्तलिखित प्रतियों का भी कुछ परिचय दे देना आवश्यक है जिनसे पदों के विश्लेषण में बहुत कुछ साहाय्य मिल सकता है। वे इस प्रकार हैं—

संख्या	विवरण	बंध-संख्या
१	१ से १२ स्कंध तक (अनुक्रम सहित)। अपूर्ण। पत्र ४०१, पंक्ति २२, आकार १२ × ७	७-५
२	दशम स्कंध। पूर्ण। पत्र २३१, पंक्ति २३, आकार १०॥ × ९	$\frac{६३}{१}$-५
३	स्कंध १ से १२ तक। पूर्ण। पत्र २२९, पंक्ति ३४।, आकार १६। × १४, लेखन-काल सं० १९१२ (ना० प्र० सभा द्वारा इसी प्रति का उपयोग 'का' संकेत से किया गया है)।	$\frac{५६}{२}$ १

संख्या	विवरण	बंध-संख्या
४	दशम स्कंध, लीला-पद संख्या १६१०। पूर्ण। पत्र ५४६, पंक्ति १२, आकार ६ X ७॥।	५८-३
५	अपूर्ण, खंडित, जल से भींगी हुई। पत्र ५०५, पंक्ति ११, आकार १०॥ X ६।, पद्य ३२५० के लगभग।	६१-१
६	अपूर्ण। पत्र १३४, पंक्ति ३३, आकार १७॥। X ८।, लेखन-संवत् १७७६	८१-२
७	अपूर्ण, खंडित। आकार ४॥ X ७ मथुरेश पुस्कालय बंध-संख्या	१५-१ ग
८	अपूर्ण। मथुरेश पुस्तकालय बंध संख्या	१५-४ ग
९	अपूर्ण, खंडित, जीर्ण प्रति। प्राचीन और अतिशय शुद्ध। लेखन-काल सं० १६६० से १६८० के भीतर।	१०-६

उक्त अंतिम बंध में सूरदास के पदों के साथ परमानंददास और चतुर्भुजदास के भी पदों का संग्रह है। पुस्तक आदि-अंत में खंडित है, अतः सूरसागर का आदि भाग और अष्टछाप के शेष कवियों का संग्रह नहीं मिल सका, अन्यथा पदों का स्पष्टीकरण सुंदर रीति से हो जाता। एक ही लेखक की एक ही समय एक ही आकार में लिखी अष्टछाप के पदों की ऐसी प्रति अन्यत्र उपलब्ध नहीं होती। इस लेख में पदों की प्रामाणिकता के प्रसंग में इसी प्रति (बंध सं० १०-६) का उल्लेख किया जायगा।

परमानंदसागर की प्राचीन प्रति

इस लेख में सूरसागर के पदों पर विचार के प्रसंग में परमानंद कृत पदों का भी उल्लेख किया गया है। उसके आधार रूप में परमानंदसागर की 'ख' प्रति का उपयोग किया गया है जिसका परिचय निम्नलिखित है।

स० मं० बंध ५७ पु० ४ (हिंदी विभाग), नाम 'परमानंदसागर', आकार १० x ७ है। यह ग्रंथ पत्र-संख्या ९ से १५३ तक लिखा गया है। प्रारंभ और अंत के पत्रों में अन्य अष्टछापी कवियों के पदों का संग्रह है। पुस्तक अत्यंत जीर्ण, शीर्ण, अति प्राचीन, पानी में भीगी, दीमक खाई हुई है, परंतु मध्य भाग बच गया है और सुरक्षित अवस्था में रख दिया गया है। पत्र-संख्या के अंक जहाँ-तहाँ बच

गए हैं। अधिकांश ऊपर की दो पंक्तियाँ अस्पष्ट और नष्टप्राय हो गई हैं, जिससे कहीं कहीं विषय और राग का नाम नहीं मिलता।

इस प्रति में पदों का संग्रह सांप्रदायिक परंपरा के अनुसार 'वर्षोत्सव-संग्रह'[८] पद्धति से किया गया है और ग्रंथारंभ पत्र ९ पर जन्म-समय के पदों से होता है। इसमें पत्र १५३ पर 'राम-जयंती' तक ही पद मिलते हैं, अन्य विषय के कीर्तन ग्रंथ के अंतिम अंश के साथ नष्ट हो गए हैं।

अपूर्ण और खंडित होने के साथ इस पुस्तक में एक विशेषता यह है कि इसमें प्रत्येक विषय पृथक् पत्र से प्रारंभ होता है और विषय-समाप्ति पर अवशिष्ट पत्र खाली छोड़ दिया गया है तथा वहाँ बीच में यत्र-तत्र कई पत्र रिक्त छोड़ दिए गए हैं, यद्यपि उनपर पत्र संख्या पूर्वानुक्रम से पड़ी हुई है। ऐसा अनुमान होता है कि यह प्रति किसी प्राचीनतर प्रति की प्रतिलिपि है, जो अधिकांश नष्टभ्रष्ट हो गई थी। किसी अन्य प्रति से विषय-पूर्ति के लिये स्थान रिक्त छोड़े गए हैं। इसी लेखन-शैली और समाक्षर में लिखी और भी एक प्रति परमानंदसागर की है, जो बंध सं० ४५ पु० १ पर विद्यमान है। इसमें रिक्त स्थानों में अधिकतया बाद में पद लिख लिए गए हैं।

प्रस्तुत ग्रंथ की लिपि सुवाच्य, सुंदर और शुद्ध है। ग्रंथ लिख जाने के बाद उसी लिपिकार ने उसका संशोधन किया है और कहीं कहीं छूटी हुई पंक्ति खाली स्थान में बाद में लिखी है।

इस लिपि का, जैसा पहले कहा जा चुका है, बंध सं० ४।१ की लिपि से सर्वथा साम्य है। यहाँ विशेष न कहकर इतना कहना पर्याप्त है कि उक्त प्रति का

८—शुद्धाद्वैत संप्रदाय के कीर्तन भाद्रपद की जन्माष्टमी से प्रारंभ होकर श्रावणी रक्षा-बंधन तक समाप्त हो जाते हैं—इसी का नाम 'वर्षोत्सव संग्रह' है। पुष्टि-मार्गीय सेवा-पद्धति में कीर्तन-संग्रह इन विभागों में संकलित होते हैं—(१) वर्षोत्सव पद-संग्रह; (२) नित्य-कीर्तन-संग्रह, जिसमें नित्य के क्रम मंगला, शृंगार, ग्वाल, राजभोग, संध्या आरती और शयन के पद होते हैं; (३) दीनता आश्रय के पद। प्रस्तुत पद्धति में प्रायः एक ही कवि के पदों का संग्रह होता है। इसके अतिरिक्त एक दूसरी भी संग्रह-पद्धति है जिसमें एक ही राग में गाए जानेवाले अधिकांश कवियों के पदों का संकलन किया जाता है। हिंदी के जो विद्वान् इस परंपरा से अनवबुद्ध रहते हैं वे सभी पदों का संमिश्रण कर डालते हैं।

लेखन-समय सं० १६४२ से १६८० के भीतर है,[९] अतः परमानंदसागर की 'ख' प्रति भी उतनी ही प्राचीन है।

पदों का सम्मिश्रण

उक्त दोनों महाकवियों के पदों में बहुत सम्मिश्रण हो गया है। परमानंददास कृत कई पद 'सूरदास' की छाप से संगृहीत हो गए हैं। एक प्रकार से इनका पृथक्करण कठिन है, कारण कि दोनों कवि समर्थ और सतीर्थ थे, दोनों एक ही आराध्य के संमुख एक ही निर्धारित सेवा-प्रणाली से कीर्तन-गान की सेवा करते थे और दोनों समकालीन, एक ही प्रदेश के निवासी एवं समान-भाषाभाषी थे। इस परिस्थिति में उन दोनों के पदों में जहाँ भाषा और भाव की एकरूपता आ सकती थी वहाँ कीर्तनों की प्रारंभिक तुकों का साम्य भी हो सकता था। ऐसी बहुत सी तुकें जो दोनों कवियों के कीर्तनों में मिलती हैं, इस लेख में छोड़ दी गई हैं,[१०] कारण कि आगे चलकर उनका वर्ण्य विषय पृथक् रूप में प्रवाहित हो जाता है। यहाँ केवल समान रूप से अथवा पाठभेद से आनेवाले समान पदों का ही उल्लेख किया जायगा।

सूरसागर के पदों और तुकों में जहाँ समान सेवा-पद्धति के कारण समानता आ गई है वहाँ अनेक पदों की तुकों में राग, ताल, लय एवं स्थान-स्थान की कीर्तन-शैली के भेद से अथवा लेखकों के प्रमाद से रूपांतर वा पाठभेद भी हो गया है। फल-स्वरूप जहाँ सूरसागर की विभिन्न प्रतियों में उसके स्वकीय पदों में ही भिन्नता का भास होता है वहाँ अन्य अष्टछापी कवियों के पदों से भी उनका मिलान नहीं हो पाता। यहाँ इस प्रकार के रूपांतर के कुछ कारणों का निर्देश कर देना उचित होगा—

(१) संबोधन के आधिक्य से। यथा, 'तनक-सो वदन तनक-से चरन' [७६८][११] पाठ का रूप बंध १०१६ में 'माधौ! तनक-सो वदन तनक-से चरन' (पत्र

९—द्रष्ट० 'सुधा' (लखनऊ, पौष सं० १९९८) में प्रकाशित लेखक का लेख—'परमानंददास जी और उनका परमानंदसागर'।

१०—लेखक द्वारा संपादित, संप्रति अप्रकाशित, 'परमानंदसागर' की पांडुलिपि में यथास्थान इनका निर्देश किया गया है।

११—पद-प्रतीक के आगे इस प्रकार के कोष्ठक के भीतर की संख्या ना० प्र० सभा द्वारा प्रकाशित सूरसागर की क्रमिक पद-संख्या है।

२९४ सं० २५) है तथा 'माई री ! मुरलो अति गरबु' [१२७१] का बंध १०१६ में 'मुरली अति गरबु' (पत्र ३४८ सं० २५) पाठ है।

(२) संबोधन के रूपांतर से। यथा, 'सखी री ! माधोहिं दोष न दीजै' [१९३०] पाठ का रूप बंध १०१६ में 'माई ! माधौ दोष न दीजै' (पत्र ३४५ सं ७) है तथा 'जसोदा ! तेरौ चिरजीवौ गोपाल' [७५६] का बंध १०१६ में 'रानी तेरौ चिरजीवौ गोपाल' पाठ है।

संबोधन का निर्णय उसके प्रकरण के स्वरूप को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए। 'उलाहना' के पद माता यशोदा को संबोधित कर कहे जायँगे, तो आसक्ति के पद अधिकांश सखियों में परस्पर कहे जायँगे। स्वरूप-वर्णन प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों रूपों में किया जायगा, अतः इसका निर्णय कि संबोधन कौन कहाँ उपयुक्त है, पुष्टि-मार्गीय सेवा-प्रणाली के आधार पर विषय के अनुसार किया जाना चाहिए।

(३) शब्दों की अस्तव्यस्तता से। यथा—'जा दिन मोहन बनहिं न जात' [३८२०] का पाठ बंध १०१६ में 'मोहन जा दिन बनहिं न जात' (पत्र ३४४ सं० २७) है।

(४) विशेषण के आधिक्य से। यथा—'पतित पावन जानि सरन आयौ' [११९] का १०१६ में 'महापतित पावन जानि सरन आयौ' (पत्र ३८९ सं० २२) पाठ है।

(५) पर्यायांतर से—जहाँ एक ही शब्द के अलग अलग पर्याय दिए गए हों। यथा—'हरि बिनु कोऊ न काम न आयौ' [३७३] का १०१६ में 'प्रभु बिनु कोऊ काम न आयौ' (पत्र ३९१ सं० ४२) पाठ है। 'मृगनैनी नैननि अंजनु दै' [३४२३] का १०१६ में 'मृग लोचनि नैननि अंजनु दै' [पत्र ३५० सं० ७] पाठ है। इसी प्रकार सखी, आली आदि शब्द हैं।

(६) शब्दाधिक्य से—जहाँ प्रारंभ या मध्य में कोई अधिक शब्द जोड़ा गया हो। यथा—'माधौजू ! गज ग्राह तें छिडायौ' [४३०] का १०१६ में 'माधौ ! गज ग्राह तें छिडायौ' (पत्र ३८६ सं० ३) पाठ है।

(७) आद्य-स्वरांतर से—जहाँ प्रारंभिक स्वर का परिवर्तन हुआ हो। यह अधिकांश गायक की इच्छा पर आधारित है। इस स्वर-परिवर्तन से पदानुक्रमणिका में भी अंतर आ जाता है। यथा-एरी, अरी, ओरी, अहो आदि।

(८) शाब्दिक रूपांतर से— जहाँ एक ही शब्द लेखक की सहज प्रवृत्ति से किंवा उच्चारण-भेद से दो रूपों में बदल जाता है। यथा, नयन-नैन, मैया-मईया, तुम्हरी-तुम्हारी। ब्रजभाषा व्याकरण में साधारणतया शब्दों का कोई एक समान ही रूप प्रचलित नहीं है। प्रांतीय भाषा-भेद से उसमें रूपांतर हो जाता है। अधिकतर कोमल कांत पदावली और शब्द-विन्यास पर उक्त प्रकार का रूपांतर अवलंबित है।

(९) प्रारंभिक परिवर्तन से—जहाँ पद का प्रारंभ पृथक् हो पर अंत की तुक समान हो। यथा—'लोचन लालची भारी' [२९९२] का १०।६ में 'मेरे नैन लालची भारी' (पत्र ३३७ सं० ५७) पाठ है। 'मैया री मैं चंद लहोंगौ' [८१२] का १०।६ में 'ल्योंगो री मैया चंदहि लौंगो (पत्र २९५ सं० १) पाठ है।

पदों का विश्लेषण

उल्लिखित आवश्यक संसूचन के अनंतर अब सूरसागर में प्रकाशित पदों का स्कंध-क्रम से विश्लेषण किया जाता है, जिससे प्रक्षिप्त पदों का भान हो सकता है। प्रकाशित पद और उनकी संख्याएँ स्कंधानुसार सभा के लघु संस्करण की ली गई हैं।

प्रथम स्कंध

सूरसागर के प्रथम स्कंध में ३४३ पद प्रकाशित हैं जिनमें सं० १ से २२३ तक विनय के पद हैं, शेष प्रथम स्कंध की कथा संबंधी। इनमें निम्नलिखित पद विचारणीय और प्रक्षिप्त ज्ञात होते हैं--

सं० २९ —'ऐसे कान्ह भक्त हितकारी'—यह पद भागवत की कथा के अनुसार नहीं है, पुराणांतर से इसका कथाभाग लिया गया है। इसमें धर्मराज के दिग्विजयार्थ अर्जुन का उत्तर दिशा में जाकर बभ्रुवाहन के साथ युद्ध में मारे जाने का उल्लेख है। शीर्षहीन अर्जुन के शरीर को देखकर कुंती के विलाप करने पर श्रीकृष्ण ने नागलोक में जाकर अर्जुन का मस्तक प्राप्त किया और उसे कबंध से संयुक्त कर जीवित किया। यह समस्त कथानक भागवत के प्रसंग के विरुद्ध है। भक्त अर्जुन की यह दुःखस्थिति वैष्णवी भावना के विरुद्ध है। अतः पद प्रक्षिप्त है। यह पद केवल (क) प्रति में ही मिलता है।

सं० ४४—"(गोपाल) तुम्हारी माया महा प्रबल"—इस पद में माया का एक कुलटा नारी के रूप में चित्रण है। पद में वर्णित माया की वेशभूषा, हावभाव आदि के सांगोपांग वर्णन से ऐसा लगता है कि यह भगवान् की शक्ति नहीं प्रत्युत एक नायिका है। 'इहि लाजनि मरिये सदा सब कोउ कहत तुम्हारी (हो)'– इस अग्रिम तुक से इसका स्पष्ट विरोध आता है। यह (शा) और (का) प्रति में नहीं है। (वे), (स), (ल) प्रतियों में दो दो स्थानों पर आया है—एक माया-वर्णन में, दूसरे रासलीला में श्री राधाकृष्ण के विवाह-प्रसंग में। इसका छंद अनेक प्रतियों में अस्तव्यस्त भी पाया गया है। चरणों का क्रम भी अस्तव्यस्त था। अधिक शुद्ध प्रतियों की सहायता से शुद्ध किया गया है।[१२]

सं० १८६—'प्रभु जू हौं तौ महा अधर्मी'—इस पद में लगता है जैसे रचनाकार प्रभु की अष्टोत्तर नामावली के प्रतिपक्ष में अपने कुकर्मों की गणना करा रहा हो। अपने प्रति निंदित विशेषणों की एकमात्र लंबी सूची वास्तव में विचारणीय है। यह पद केवल (स) और (ल) इन दो ही प्रतियों में मिलता है।

इन पदों के अतिरिक्त नीचे लिखे पद सूरदास कृत न होकर निश्चित रूप से परमानंददास कृत हैं क्योंकि ये परमानंदसागर की प्राचीन 'ख' प्रति (बंध सं० ५७।४) में मिलते हैं और उसी प्रति के सूर कृत पदों में इनका समावेश नहीं है—

पद-संख्या	प्रतीक	प०सा०'ख'प्रति,पत्र
[४१]	तुम्हरैं भजन सबहिं सिंगार	११२
[१२२]	तातें तुम्हरौ भरोसौ आवै	११२
[१६४]	तुम तजि और कौन पें जाऊं	११४

सूर कृत विनय-पदों में भागवतीय मौलिकता वल्लभाचार्य की सुबोधिनी (भा० प्र० स्कंध, अ० ५ श्लोक २४) पर आश्रित है। वहाँ शिष्य की योग्यता के संबंध में निर्दिष्ट दोषाभाव और गुणों को लक्ष्य में रखकर ही सूर ने विनय-पदों की रचना की है। वे इस प्रकार वर्णित हैं—

(१) चपलता, अदांतता और क्रीड़ा-साधन-परिग्रह—इन दोषों का अभाव। चपलता जीव का सहज दोष है, जिसके कारण देह, इंद्रिय और अंतःकरण की

१२—सूरसागर, ना० प्र० सभा, प्र० संस्करण, पृ० २५ की सूचना।

अंतर्मुख वृत्तियों में तो शिथिलता आ जाती है और अन्यत्र स्फूर्ति होने लगती है। अदांतता इंद्रियकृत नियत दोष है जो विषयों के प्रति आकांक्षा रूप है। क्रीडा-साधन-परिग्रह कालकृत नियत दोष है, जो सांसारिक वस्तुओं की संग्रहात्मक बुद्धि का पर्यवसान है। इन तीन दोषों का अभाव भगवद्भक्तों में होना परमावश्यक है।

(२) गुण चार प्रकार के अपेक्षित हैं—(१) भगवद्भक्तों की आज्ञा का परिपालन और सेवा, जिसे 'अनुवर्तन' कहते हैं, (२) दीनत्व—अहंभाव की निवृत्ति और निःसाधनता का ज्ञान, (३) शुश्रूषा—भगवच्चरित्रों के श्रवण की इच्छा, (४) अल्पभाषण—भगवदतिरिक्त अन्य-विषयक वाग्व्यापार का अवरोध।

निर्दिष्ट प्रणाली के आधार पर विनय संबंधी पदों का विभाजन सुंदर ढंग से किया जा सकता है। यद्यपि सूर कृत पदों में सभी भावों का समन्वय मिल सकता है, तथापि उनमें एक विशेषता अवश्य मिलेगी जो पद की अंतरात्मा कही जा सकती है। इसी को मुख्य रूप में अनुस्यूत किया जा सकता है। सूर कृत विनय संबंधी प्रामाणिक पद इसी तुला पर खरे तौले जा सकते हैं—इसके अतिरिक्त शेष पद स्वतः प्रक्षिप्त सिद्ध हो जायँगे।[13]

१३—सूर कृत विनय के पदों में हम उक्त प्रणाली पर कुछ मोटी-मोटी धाराओं को देख सकते हैं, जो इस प्रकार हैं—

(१) ऐसे पद जो भगवान् के नाम, रूप, लीला और कृपालुता के माहात्म्य का परिदर्शन कराते हैं। यथा—'क्यों तू गोविंदनाम बिसारचो' [८०], 'हरि जू तुमते कहा न होय' [६५], इत्यादि।

(२) ऐसे पद जो स्वकीय दृढ़ आसक्ति एवं अनन्यता के बोधक हैं। यथा—'हरिसो ठाकुर और न जन कौ' [८], 'जन की और कौन पति राखै' [१५]।

(३) ऐसे पद जिनमें दीनत्व-भावना का परिपाक होता है। यथा—'मो-सो पतित न और हरे !' [१६८], 'माधौ ! जू सो अपराधी हौं' [१५१]।

(४) ऐसे पद जिनमें सांसारिक अनित्यता, मायाकृतित्व एवं प्रापंचिक पदार्थों की व्यर्थता का निदर्शन कराकर वैराग्य-वृत्ति को दृढ़ किया गया है। यथा—'हरि ! तुव माया को न बिगोयौ' [४३], 'अब सिर परी ठगोरी देव !' [५६]।

(५) ऐसे पद जो प्रभु के प्रति उपालंभपूर्ण होते हुए भी उनकी विशेषता पर

विनय के पदों के अनंतर सं० २२४ से ३४३ तक बीस पदों में प्रथम स्कंध की कथा का संग्रह है। इसमें निम्नलिखित पद विचारणीय हैं—

सं० २२४—'हरि हरि हरि हरि सुमिरन करौं, हरि चरनारविंद उर धरौं'—इस पद से स्कंध की कथा चालू होती है। यह ध्यान देने योग्य है कि इसी प्रकार के प्रारंभ से प्रत्येक स्कंध की कथा जोड़ी गई है। इस प्रकार की प्रारंभिक पुनरुक्ति प्रायः स्कंध के आदि में सर्वत्र हुई है, और मध्य में भी जहाँ कथा-प्रसंग जोड़ने की आवश्यकता प्रतीत हुई है, इसी पद्धति को अपनाया गया है। स्थान स्थान पर इस प्रवृत्ति से ऐसे पदों की प्रक्षिप्तता का स्वयं समर्थन होता है। आगे इन पदों को 'हरि हरि' पद्धति के नाम से निर्दिष्ट कर प्रक्षिप्त माना जायगा।

सं० २२५-२३०—ये छः पद कथा-प्रसंग की कड़ी जोड़ने के लिये दोहे-चौपाइयों में रचित हैं। ये सूर कृत न होकर अन्य कवि कृत हैं। 'व्यास कहे सुकदेव सों द्वादस स्कंध बनाइ, सूरदास सोई कहै पद भाषा करि गाइ' [२२५] से ऐसा ज्ञात होता है कि सूर विचारपूर्वक भागवत का भाषा-पद्यानुवाद करने बैठे हैं। पर वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। अवश्य ही सूर के पदों में भागवत के सभी स्कंधों की लीला का समावेश है परंतु 'उवाच' की संवादमयी पद्धति पर एवं कथा की कड़ी जोड़ते हुए 'सूरसागर' की रचना नहीं हुई है। पदों का यह विशाल संग्रह बाद में भागवतानुवाद के रूप में संकलित किया गया जो 'सूरसागर' नाम से हमारे सम्मुख आता है। ऐसा न होता तो एक ही पद विभिन्न प्रतियों में विभिन्न स्थानों पर न मिलता और न राग के क्रमानुसार उनका संग्रह ही हुआ होता।[१४]

सं० २३६-२३९—ये चार पद कथा-प्रसंग-पूर्त्यर्थ हैं। पहिले में 'हरि हरि हरि' का मंगलाचरण है जो अप्रासंगिक है। दूसरा दो चौपाइयों में है। तीसरा पद शिथिल रचना है।

प्रकाश डालते हैं। यथा—'मोहिं प्रभु! तुम सो होड़ परी' [१३०], 'आजु हौं एक एक करि हरि हौं' [१३४], 'कहावत ऐसे त्यागी दानी' [१३५], आदि।

(६) ऐसे पद जो स्वकीय आत्मा किंवा मन को संबोधित कर कहे गए हैं। यथा—'नर तैं जन्म पाइ कहा कीनौ' [६५], 'रे मन! आपु कौ पहिचान' [७०] आदि।

१४—उदाहरणार्थ, माया-वर्णन का पद [४४] रासलीला-वर्णन में मिलता है। सभी प्रतियों के पदों में क्रमिक विभिन्नता भी इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है।

सं० २४२-२४४—ये तीन पद कृष्ण-दुर्योधन-संवादात्मक हैं जो विरुद्ध प्रतीत होते हैं।

सं० २४५—यह 'हरि हरि' पद्धति का है जो अनावश्यक है।

सं० २४६—कथा-प्रसंग-पूर्त्यर्थ है।

सं० २६०-२६१—ये दोनों 'हरि हरि' पद्धति के हैं।

सं० २७६-२७७—इनमें चौपाइयों में भीष्म के देहत्याग के प्रसंग की पूर्ति की गई है।

सं० २८०, ८१, ८४, ८६, ८८—ये पाँच पद कथा-प्रसंगार्थ हैं और १८५, २८९, २९० संख्यावाले तीन पद 'हरि हरि' पद्धति के हैं।

सं० २३२ (बड़ी है राम नाम की ओट) यह पद परमानंददास कृत है। 'ख' प्रति (प० सा०, सं० ११५) में यह 'बड़ी है कमलापति की ओट', इस प्रकार है। दोनों पदों में आगे चलकर कुछ पाठभेद भी है।

सं० ३४१-४३—ये तीन पद केवल प्रसंग-पूर्त्यर्थ हैं।

इस प्रकार प्रथम स्कंध के ३४३ पदों में से कुल ३८ पद विचारणीय एवं प्रक्षिप्त हैं जिनका एकत्र संकलन इस प्रकार है—

४ पद परमानंद कृत हैं,

८ पद 'हरि पद्धति के हैं,

२६ पद कथा-प्रसंग-पूर्त्यर्थ और शिथिल रचना हैं।

द्वितीय स्कंध

प्रस्तुत स्कंध में कुल ३८ पद हैं, जिनमें—

सं० १ 'हरि हरि' पद्धति का है।

सं० ३ में शुद्धाद्वैत संप्रदाय की अनन्य भावना के विपरीत 'तारक' मंत्र का उल्लेख है। इसका पाठभेद भी अस्तव्यस्त था, जो सभी प्रतियों से लेकर सुधारा गया है। छंद भी ठीक नहीं था।[१५]

सं० ५ 'हरि हरि' पद्धति का है। विभिन्न प्रतियों में विभिन्न रीति से पाया जाता है। (ना) प्रति के आधार पर क्रमबद्ध किया गया है।

१५—द्रष्ट० सूरसागर (ना० प्र० सभा, बृहत् संस्करण), पृ० १८६ पा० टि०।

सं० २०, २१, २९, ३५, ३७—ये पद भी प्रसंग-पूर्त्यर्थ हैं। कथा-प्रसंग-पूर्ति के पद अधिकांश क्या सर्वांश में चौपाइयों में ही हैं जो स्वतः पार्थक्य का बोधन कराते हैं। इनमें कहीं कहीं दोहे का भी प्रयोग किया गया है।

इस प्रकार इस स्कंध में ८ पद प्रक्षिप्त हैं जिनका एकत्र संकलन इस प्रकार है–

२ पद 'हरि हरि' पद्धति के हैं,

५ पद कथा-प्रसंग-पूर्त्यर्थ हैं,

१ पद सिद्धांत-विरुद्ध है।

तृतीय स्कंध

इस स्कंध में कुल १३ पद हैं जिनमें—

स० १ 'हरि हरि' प्रणाली का पद है।

सं० ४ से १२ तक के पद कथा-प्रसंग-पूर्त्यर्थ हैं।

सं० ४ में विदुर-मैत्रेय-संवाद बदरिकाश्रम में कहा गया है। भागवत में यह हरिद्वार में गंगातट पर वर्णित है। अतः भागवत से विरुद्ध होने के कारण भी यह पद विचारणीय है।[१६]

सं० १३ 'हरि हरि' प्रणाली का है।

इस प्रकार इस स्कंध के १३ पदों में ११ प्रक्षिप्त हैं जिनमें—

२ पद 'हरि हरि' पद्धति के हैं।

९ पद प्रसंग-पूर्त्यर्थ हैं।

चतुर्थ स्कंध

इस स्कंध में कुल १३ पद हैं, जिनमें—

सं० १, ३, ५, ९ और १२ 'हरि हरि' पद्धति के हैं।

सं० २, ४, ७, ८ और ११ प्रसंग-पूर्त्यर्थ हैं। सं० ३, ४, ५, ७, ८ और ९ में चरण-पूर्त्यर्थ 'सूर कह्यौ भागवत अनुसार' यह पंक्ति आती है, जो बारबार पुनरुक्ति होने से अनावश्यक है, अतः ये पद अवश्य प्रक्षिप्त हैं।

सं० ४ में दक्ष की सात पुत्रियों का उल्लेख भागवत के विरुद्ध है। भागवत में सोलह कन्याओं का उल्लेख है। इस पद में भिन्न-भिन्न प्रतियों में भिन्न-भिन्न

१६—द्रष्ट० सूरसागर (सभा, बृ० सं०) पृ० २०८, पाद टिप्पणी।

संख्या लिखी मिलती है जो अप्रामाणिकता का बोध कराती है। अनुवाद में ऐसी भिन्नता नहीं होनी चाहिए।[१७]

अस्तु इस स्कंध के १३ पदों में १० इस प्रकार प्रक्षिप्त हैं—

५ पद 'हरि हरि' पद्धति के हैं,

५ पद प्रसंग-पूर्त्यर्थ हैं।

पंचम स्कंध

इस स्कंध में केवल ४ पद हैं।

सं० १, २, ३, ४ प्रसंग-पूर्त्यर्थ हैं। सं० २ को छोड़कर सभी 'हरि हरि' पद्धति के हैं। इस प्रकार इस स्कंध के चारों पद प्रक्षिप्त हैं—

३ पद 'हरि हरि' पद्धति के हैं,

१ पद कथा-पूर्त्यर्थ है।

षष्ठ स्कंध

प्रस्तुत स्कंध में कुल ८ पद हैं जिनमें—

सं० १, ४, ५ 'हरि हरि' पद्धति के हैं। इनमें कथा-प्रसंग ही है।

सं० २, ३, ७ और ८ केवल प्रसंग-संयोजन के लिये हैं। अस्तु, इस स्कंध में ८ पदों में से ७ इस प्रकार प्रक्षिप्त हैं—

३ पद 'हरि हरि' पद्धति के हैं,

४ पद कथा-प्रसंगार्थ हैं।

सप्तम स्कंध

इसमें कुल ८ पद हैं जिनमें—

सं० १, २, ७, ८ 'हरि हरि' पद्धति के हैं। सं० २ में 'नरहरि नरहरि' का परिवर्तन है। ये सभी कथा प्रसंग-पूर्त्यर्थ भी हैं।

सं० ३ (पढ़ौ भाई राम मुकुंद मुरारि) परमानंददास जी की छाप से भी मिलता है। परमानंदसागर की 'ख' प्रति में तो नहीं है पर एक अन्य प्रति में उपलब्ध होता है, अतः संदेहास्पद है।

१७—संपादक के कथनानुसार कुछ प्रतियों में दक्ष-सुताओं की संख्या ६० मिलती है, जो भागवत-वर्णित एक दूसरे दक्ष (प्रचेता के पुत्र) की कन्याओं की संख्या है। संभव है कवि को इन्हीं दक्ष के कारण भ्रम हुआ हो (द्रष्ट० बृ० सं०, पृ० २२४, पा० टि०)।

इस प्रकार इस स्कंध के ८ पदों में से ५ पद संदिग्ध हैं—

४ पद 'हरि हरि' पद्धति के हैं,

१ पद परमानंद की छाप से भी मिलता है।

अष्टम स्कंध

इसमें कुल १७ पद हैं जिनमें—

सं० १ 'हरि हरि' पद्धति का है।

सं० २, ५, ७, ८, ९, १०, ११, १२ और १६—ये ९ पद कथा-प्रसंग-पूर्त्यर्थ और आवश्यकता से अधिक लंबे हैं।

सं० ५ (झांई न मिटन पाई) का पाठ बड़ा अस्तव्यस्त था, समस्त प्रतियों की सहायता लेकर उसे सुधारने की चेष्टा की गई है।[१८]

सं० ७ में वर्णन है कि जब राजा बलि ने इंद्र को त्रास दिया तो वह श्री हरि की शरण में गया। तब प्रभु ने कूर्म-शरीर धारण किया। यह कथानक भागवत-विरुद्ध होने से विचारणीय है।

सं० ११ में सुंद-उपसुंद की कथा है, जो भागवत के अनुकूल नहीं है। इसका आधार दुर्गासप्तशती है।

सं० १५ का पद केवल सूरसागर की (ल) प्रति का है।[१९]

इस प्रकार अष्टम स्कंध में १७ में १० पद संदिग्ध हैं। इनमें

१ पद 'हरि हरि' पद्धति का है

९ पद कथा-प्रसंग-पूर्त्यर्थ हैं।

नवम स्कंध

इस स्कंध में कुल १७४ पद हैं। इस स्कंध के पदों का रामायण की पद्धति पर कांडों में विभाजन विचारणीय है। संदिग्ध पदों का विभाजन इस प्रकार है—

सं० १, ५, १५—ये तीन पद 'हरि हरि' पद्धति के हैं।

सं० २, ३, ४, ८, ९, १३, १४, ४४, ४६, ६७, ७२, ७४, ७५, ७८, ७९, ८३, ९६, ९७, १२१, १७३ तथा १७४—ये २१ पद कथा-प्रसंग-पूर्त्यर्थ हैं।

सं० ७—यह पद केवल (ना) प्रति का है।[२०]

१८—द्रष्ट० सभा का बृहत् संस्करण, पृ० २७७, पा० टि०।

१९—वही, पृ० २८५, पा० टि०।

२०—वही, पृ० २९६, पा० टि०।

सं० ११—इस पद में गंगा के लिये तलवार का रूपक विचारणीय है। यह पद (स), (ल), (शा), (का), (ना२) और (रा) प्रतियों में नहीं है।[२१] अतः प्रामाणिक नहीं जँचता।

सं० ५०—इसमें दशरथ की अंत्येष्टि का वर्णन अस्वाभाविक (सूर की भावना के विरुद्ध) है। सूर भौतिक क्रिया-कलाप का वर्णन नहीं करते।

सं० ५६—इसमें 'सूर्पनखा' का संवाद अप्रासंगिक है।

सं० ९१-यह पद (सुनु कपि वे रघुनाथ नहीं) सीता जी की भावना के विरुद्ध होने से विचारणीय है।

सं० ११८—यह संवादात्मक शिथिल रचना है, अतः विचारणीय है।

इस प्रकार इस स्कंध में १७४ पदों में ३० प्रक्षिप्त प्रतीत होते हैं, जिनमें—

३ पद 'हरि हरि' पद्धति के हैं,

२१ पद कथा-प्रसंग-पूरक है,

६ पद विषय आदि की दृष्टि से अप्रामाणिक जान पड़ते हैं।

दशम स्कंध

दशम स्कंध (पूर्वार्ध एवं उत्तरार्ध) में कुल ४३०९ पद हैं।[२२] इनमें प्रक्षिप्त और विचारणीय पदों का विवरण यहाँ दिया जाता है।

[१] निम्नलिखित संख्याओं के पद कथा-प्रसंग-पूर्त्यर्थ हैं—

१, ४० (अन्याश्रय संबंधी होने से भी यह सूर कृत नहीं है), ३९१।

[२] सं० २, ४१६७, ४१९२, ४२०६, ४२२४, ४२६७, ४३००, ४३०५, ४३०९—ये ९ पद 'हरि हरि' पद्धति के हैं।

[३] निम्नलिखित संख्याओं के पद परमानंददास के नाम से भी परमानंद-सागर की विभिन्न प्रतियों में मिलते हैं, अतः संदिग्ध हैं—

१२, २०, १२१, १७६, १७९ ('बलि बलि जाऊं मधुर सुर गावहु' का 'हौं

२१—वही, पृ० ३०१, पा० टि०।

२२—प्रारंभ (पृ० २५५) से पूतना-वध (पृ० २७७) तक के पदों का विषय-संकेत (बधाई, जन्म, पलना आदि) नहीं दिया है, जो सर्वत्र प्राचीन प्रतियों में मिलता है और अन्य सब अष्टछापी कवियों की रचनाओं में भी प्राप्त होता है। सूर की रचना में इसका अभाव खटकता है।

बलि जाऊं मधुर सुर गावहु' पाठ है), २८८ (प० सा० की 'ख' प्रति में तो नहीं है, किंतु पाँच अन्य ह० लि० प्रतियों में है), ४६३, ४६४, ४७५ (यह सूरसागर की केवल वे और गो प्रतियों में है), ६१३ ('कहि कहि टेरत...' का 'कहि कहि पोलत...' पाठ है; सूरसागर की ल, का, के, पू प्रतियों में यह पद नहीं है), ६९३ ('पीत उढनिया' से न प्रारंभ होकर 'लाल तुम पीत उढनिया ..' इस प्रकार प्रारंभ होता है; सूरसागर की ना, कां, वृ, रा०, श्या प्रतियों में नहीं है), १४१२, १६८', २४००, २९६५, ३४७८, ३७३४, ३९३४ (पाठांतर के साथ), ४२३५, ४२७०

[४] निम्नलिखित संख्याओं के पद निश्चित रूप से परमानंददास कृत हैं और परमानंदसागर की 'ख' प्रति में मिलते हैं, जिसका निर्देश कोष्ठक में 'ख' के आगे इस प्रति की पृष्ठ-संख्या देकर किया गया है—

२९ (ख ५९; यह पद सूरसागर की ना, स, वृ, क, कां, रा, श्या प्रतियों में नहीं है[२३]), ४६ (ख १२), १०२ (ख १४), ११३ (ख १२), ११६, ११९ (ख १३), १६३ (ख १५; दोनों में केवल प्रारंभिक पाठभेद है, 'गोपालराइ दधि-मांगत अरु रोटी' का 'ख' में 'गोपाल माई मांगत हैं दधि रोटी' है), १९८ (ख १५, साधारण पाठभेद से[२४]), २१५ (ख १९; सूरसागर की का, के, पू प्रतियों में नहीं है), २४५ (ख ४०, यह 'ना' प्रति में नहीं है), २४९ (ख १४, कुछ पाठभेद से), २६३ (ख १४), २७४ (ख २२), २८१ (ख २७), २९१ (ख २२), ३२१ (ख २६), ३२७ (ख २२), ३३१ (ख २२), ३४६ (ख १५, 'जसुदा तेरौ मुख हरि जोवै' के स्थान पर 'गोविंद बार बार मुख जोवै' से आरंभ होता है), ३५९ (ख १६, 'कमल नैन की ओर' का पाठ 'हरि के वदन की ओर' है), ३८८ (ख १५), ३९४ (ख ११३), ४०९ (ख १८), ४१२ (ख ३३), ४३२ (ख ३६), ४६१ (ख ३६), ५७१ (ख ११३, सूर० में अंतिम चरण है—'ते पद कमल सूर के स्वामी फन प्रति नृत्य करे' और प० सा० में 'सो पद कमल दास परमानंद गावत प्रेम पीयूष भरे'; परमानंददास की वार्ता में भी इसका उल्लेख है[२५]), ६६३ (ख ५७),

---

२३—द्रष्ट० सभा, वृ० सं०, पृ० ४२६, पा० टि० ।

२४—नवलकिशोर प्रेस के सूरसागर तथा राग कल्पद्रुम में इस पद पर परमानंददास की छाप है । विभिन्न प्रतियों में इसके चरणों की संख्या भिन्न है (द्रष्ट० सभा का वृ० सं०, पृ० ५१६, पा० टि०) ।

२५—द्रष्ट० अष्टछाप वार्ता (विद्याविभाग, कांकरोली), पृ० १४७

७२१ (ख ७१), ७३१ (ख ५५; सू० सा० में 'बलि जाऊँ गैयाँ दुहि दीजै' से प्रारंभ होता है, प० सा० में 'बलि गई मेरी गाइ दुहि दीजै' से; सू० सा० में यह पद अपूर्ण सा है और केवल स, व, श्या प्रतियों में ही पाया जाता है), ७३४ (ख५५, प० सा० की अन्य सभी प्रतियों में उपलब्ध होता है), ७४२ (ख ६१, पाठांतर और परिवर्तन के साथ; प० सा० की सभी प्रतियों में प्राप्त; सू० सा० की ना, क, वृ०, कां, रा, श्या प्रतियों में नहीं है), ७५० (ख ७३, सू० सा० की ना, का, वृ, कां, रा, श्या, प्रतियों में नहीं है, प० सा० की सभी प्रतियों में है), ७७४ (ख २५, आदि का पाठ 'ग्वालिनी घर की बाढ़ी' है), ११८६ (ख ८२), १३९० (ख ३५), १६६१ (ख ६५), १६६२ (ख ६३), १६६४ (ख ६२), १६६५ (ख ६२), १६७६ (ख ७१), १८६५ (ख ६२), १९२६, (ख ६१), २८७३ (ख १०८), ३०२६ (ख ५७), ३०४३ (ख १६; सू० सा० में 'एइ दोउ बसुदेव के ढोटा' से आरंभ होता है, प० सा० में 'ए बसुदेव के दोउ ढोटा' से; प० सा० की अन्य प्रतियों में भी मिलता है), ३२०१ (ख १२५), ३२०३ (ख १२८), ३२६९ (ख १३३), ३२८१ (ख १२३, 'मेरौ मन वैसीयै सुरत करै' का पाठ 'मेरौ मन तहां ई चाह करै' है), ३३०९ (ख १३१), ३३९६ (ख १३२), ३४०२ (ख १२६, साधारण पाठभेद), ३४७४ (ख १४३, प्रारंभ में 'हमतें' के स्थान पर 'मोतें' है, तथा साधारण पाठभेद है), ३५३१ (ख ६४, पाठभेद के साथ, पर प० सा० का पाठ सम्यक् प्रतीत होता है), ३६५३ (ख १४४), ३६६८ (ख १३८), ३७३५, ३७७५ ('ख' के सिवा प० सा० की अन्य प्रतियों में भी है), ३७९२ (ख १४१), ३७९३ (ख १३८), ३८०५ (ख १४५), ३९१४ (ख १४२), ३९२८ (ख १४०, सू० सा० में 'यह गोकुल गोपाल उपासी' और प० सा० में 'गोकुल सब गोपाल उपासी' है, परमानंददास की वार्ता में भी यह पद है[२६]), ३९५७ ('ख' के अतिरिक्त प० सा० की अन्य प्रतियों में भी मिलता है), ४०४६ (ख १४३), ४०८६ (ख १४१, साधारण पाठभेद), ४१०० (परमानंददास की वार्ता के प्रसंग में आया है[२७]) ।

[५] निम्नलिखित संख्या के पद भागवत-प्रसंग के विरुद्ध हैं—

२६—वही, पृ० १२४

२७—वही, पृ० १२३

सं० ५७ 'श्रीधर अंग भंग' की कथा का है। श्रीकृष्ण ब्रह्मण्य देव हैं, उनके द्वारा इस प्रकार ब्राह्मण की कुदशा का वर्णन सूर को अभीष्ट नहीं हो सकता।

सं० ५८, ५९, कागासुर वध के पद।

सं० ५२१ से ५३१ तक, ५३७, ५३८, ५६१, ५६२, ५६४, ५७७, ५८०, ५८२ से ५९० तक—ये २७ पद कमल-पुष्प के प्रसंग के हैं। ५८९ संख्यक पद अत्यधिक लंबा है। ५९० संख्यक पद दावानल-पान लीला का है और इसमें कमल-प्रसंग का भी वर्णन है, जो विचारणीय है।

सं० ७९८ ('शिव शंकर हमकों फल दीनों')—यह पद अन्याश्रय का बोधक है। इसमें शिव जी की प्रार्थना है, पर भागवत में कात्यायनी के पूजन का प्रसंग है।

सं० ८४१ ('अपने अपने टोल कहत ब्रजवासियाँ')—यह शुद्धाद्वैत पुष्टि-मार्ग की सेवा-प्रणाली के विरुद्ध पाठभेद से छपा है। इसका शुद्ध पाठ गो० ब्रजभूषण लाल जी महाराज (कांकरोली) ने 'गोवर्धन लीला' नाम से छपवाया है, जो मननीय है।

[६] निम्नलिखित पद तुलसीदास कृत गीतावली के हैं—

सं० १०४ (आँगन खेलत घुटुरिनि धाए)[२८]—इस पद में 'राम' के स्थान पर 'स्याम' और 'दोउ' के स्थान पर 'मुख' कर दिया गया है। अंतिम छाप की तुक में 'सूरदास क्यों करि बरनै जो छवि निगम नेति कहि गाए' के स्थान पर गीतावली में 'तुलसिदास रघुनाथ रूप गुन तौ कहौं जो विधि होहिं बनाए' पाठ है, जो सुंदर और प्रवाहपूर्ण है।

२८—द्रष्ट० सभा का बृहत् संस्करण, पृ० ४७१, पा० टि०; गीतावली, पद सं० २३; तुलसीदास सूरदास के समसामयिक थे और आदरार्थ वे सूर का पद ग्रहण कर सकते थे, परंतु गीतावली एक स्वतंत्र गेय पद-संग्रह है अतः उसमें ऐसी संभावना नहीं है। इसके विपरीत पुष्टि-मार्ग में संगीत और भाव-गांभीर्य के प्रति आदर-भावना के कारण तुलसी-दास जी, हित हरिवंश जी आदि कई अन्य-संप्रदायी भक्त कवियों के पदों का गान प्रारंभ से ही प्रचलित है, अतः उनके पदों का इच्छापूर्वक संग्रह हो जाना स्वाभाविक है। बाद की कट्टरता ने 'तुलसीदास' की छाप को 'सूरदास' के रूप में बदल दिया और यह सूर की रचना बन गई। सूरसागर की ना, हू, कां, रा, स्या प्रतियों में यह पद नहीं है।

सं० १०६ (आदर सहित बिलोकि)—यह पद शब्दों के हेरफेर से गीतावली (पद ३१) में आया है। सं० १७५३ की सूरसागर की प्रति (के) में यह पद है, परंतु ना, वृ, कां, रा, श्या प्रतियों में नहीं है।[२९]

सं० १०९ 'हरि जू की बाल छवि'—यह गीतावली का २४ संख्यक पद है। सूरसागर की ना, वृ, कां, श्या प्रतियों में नहीं है।[३०]

सं० १५१ ('छोटी छोटी गोड़ियाँ')—यह गीतावली का ३० संख्यक पद है। सूरसागर की ना, शा, वृ, कां, रा, श्या प्रतियों में नहीं है।[३१]

सं० २१८ ('खेलन चलौ बाल गोबिंद')—गीतावली, पद सं० ३८ में यह पद प्रायः इसी रूप में मिलता है।[३२]

[७] निम्नलिखित संख्या के पद कुंभनदास कृत हैं—

सं० २८७ (जानि जु पाए हौं हरि नीकैं)—कांकरोली विद्याविभाग द्वारा प्रकाशित 'कुंभनदास पदसंग्रह' में यह पद सं० १२९ पर आया है। वहाँ इसका प्रारंभ इस प्रकार है—'आनि पाए हो हरि नीके'। सूरसागर की (के) और (पू) प्रतियों में यह नहीं है।

सं० २६७८ (तुम्हरे पूजिए पिय पांइ)—यह कुंभनदास पदसंग्रह का ३२६ संख्यक पद है। विद्याविभाग की दो हस्तलिखित प्रतियों में विद्यमान है।

सं० ४११४ (नैन घन घटत न एक घरी)—कुंभन० संग्रह का पद सं० ३४५ है और विद्याविभाग की दो हस्तलिखित प्रतियों में विद्यमान है।

[८] उक्त पदों के अतिरिक्त अन्य संदिग्ध एवं विचारणीय पद इस प्रकार हैं—

सं० ८६ ('नंद जू जोतिषी तुम्हरे घर कौ')—यह पद जन्मकुंडली के आधार पर बनाया गया है, सूर कृत नहीं है। सूरसागर की केवल 'शा' प्रति में मिलता है।

२९—सभा, बृ० सं०, पृ० ४७२, पा० टि०।

३०—वही, पृ० ४७४, पा० टि०।

३१—वही, पृ० ४९५, पा० टि०।

३२—वही, पृ० ५२८, पा० टि०।

सं० १२६ ('साँवरे बलि बलि बालगोविंद')—यह केवल सूरसागर की 'ना' प्रति का है, अतः विचारणीय है।

सं० १५५ ('कहन लागे मोहन मैया मैया')—इसी भाव का पद 'बोलन लागे मैया मैया' तुक से परमानंददास कृत भी है (ख १३), परंतु दोनों भिन्न हैं। यह पद सूरसागर की ल, का, के, क, पू प्रतियों में नहीं मिलता।

सं० १५२ तथा सं० १५० दोनों समान भाव के पद हैं। पुनरुक्ति होने से यह संदिग्ध है। संभवतः ये पाठभेद से अलग अलग हो गए हैं।

सं० ६०४ ('एक दिवस दानव प्रलंब को')—यह पद संपादकों को भी विचारणीय प्रतीत हुआ है। भागवत में प्रलंबासुर का वध बलराम द्वारा वर्णित है पर इस पद में कृष्ण द्वारा, अतः चिंत्य है। यह पद सूरसागर की ना, स, कां, रा, श्या प्रतियों में ही है। वे, शा, वृ, गो, जौ प्रतियों में प्रलंब-वध शीर्षक एक पद अवश्य है, परंतु प्रथम दो पंक्तियों को छोड़कर उसके शेषांश में केशी-वध का वर्णन है, अतः वह केशी-वध के प्रसंग में रख दिया गया है।[33]

सं० ७९९—यह दूसरी चीरहरण लीला का लंबा पद है। इसमें पिछले कई पदों की पुनरावृत्ति है, अतः विचारणीय है।

सं० ८८४-९५१—ये ६८ पद दूसरी गोवर्धन लीला की लंबी चौड़ी प्रसंग-पूर्ति मात्र हैं। इसके छोटे छोटे खंडों में 'सूर' छाप बार बार आती है, परंतु प्रसंग पूर्वानुसंधानपूर्वक ही चला जाता है। जान पड़ता है जैसे यह छोटी सी स्वतंत्र ग्रंथ-रचना हो। अतः विचारणीय है।

सं० ९८१—यह पद द्वंद्व-स्तुति में कृष्ण की नामावली जैसा है। आगे चरणारविंद का माहात्म्य-वर्णन है, जो पुनरुक्त है। अतः विचारणीय है।

सं० ३३७१ ('स्याम विनोदी रे मधुबनियाँ')—यह पद परमानंदसागर (ख १२२) के 'कान्ह विनोदी रे मधुवनियाँ' से बहुत मिलता है।

इस प्रकार दशम स्कंध (पूर्वार्ध एवं उत्तरार्ध) में प्रक्षिप्त एवं विचारणीय पदों की कुल संख्या २१६ है जिनका विवरण इस प्रकार है—

३३—वही, पृ० ७३१, पा० टि०।

[१]	कथा प्रसंग-पूरक पद	३
[२]	'हरि हरि' पद्धति के पद	९
[३]	परमानंद की छाप से भी मिलनेवाले पद	२०
[४]	निश्चित रूप से परमानंददास कृत पद	६८
[५]	भागवत-विरुद्ध पद	३२
[६]	तुलसीदास कृत पद	५
[७]	कुंभनदास कृत पद	३
[८]	अन्य विचारणीय पद	७६
		कुल २१६

एकादश स्कंध

इस स्कंध में कुल ४ पद हैं, जिनमें दो पद—सं० ३, ४—'हरि हरि' पद्धति के, केवल कथा-प्रसंग-पूर्त्यर्थ हैं। शेष दो पद ही सूर कृत सिद्ध होते हैं।

द्वादश स्कंध

इस स्कंध में कुल ५ पद हैं और वे सभी 'हरि हरि' पद्धति के, केवल कथा-प्रसंग-पूर्त्यर्थ हैं।

परिशिष्ट १

इस परिशिष्ट में ऐसे पद दिए गए हैं जो संपादक द्वारा निश्चित रूप से प्रक्षिप्त नहीं माने गए हैं। इनकी संख्या २०३ है। इनमें निम्नलिखित पद वस्तुतः प्रक्षिप्त हैं और शेष सूर कृत हैं—

सं० ४—यह 'हरि हरि' पद्धति का है। कथा-प्रसंग-पूर्त्यर्थ बाद में रचा गया है।

सं० ३१—यह कमल-पुष्प मँगाने के प्रसंग का है, जो भागवत-विरुद्ध है।

सं० ७१ ('मैं तेरी लाज गँवाई हो')—यह पद परमानंददास कृत (क्र ६९) है।

सं० ७७, ११३, १४२—ये तीनों पद कुंभनदास कृत हैं। 'कुंभनदास पदसंग्रह' (कांकरोली) में इनकी संख्या क्रमशः ३१८, ९९ और १०५ है। सं० ९९ में पाठभेद है। १०५ का आधा अंश १४२ से बराबर मिलता है, शेष में पाठभेद है।

इस प्रकार परिशिष्ट १ के अर्धसंदिग्ध २०३ पदों में निम्नलिखित ६ वस्तुतः प्रक्षिप्त हैं—

'हरि हरि' पद्धति का पद	१
भागवत-विरुद्ध पद	१
परमानंददास कृत पद	१
कुंभनदास कृत पद	३

परिशिष्ट २

द्वितीय परिशिष्ट में कुल ६७ पद हैं जो निश्चित रूप से प्रक्षिप्त माने गए हैं। इनमें केवल एक पद—सं० ३१, 'कान्ह तिहारी सों आऊँगी'—कुंभनदास कृत (पद-संग्रह, १४२) है। शेष अस्तव्यस्त हैं, अथवा पाठभेद से अन्य कवियों के हो सकते हैं।

इस प्रकार सूरसागर के बारहों स्कंधों में प्रक्षिप्त एवं मूल पदों की संकलना यों विदित होती है—

	प्रक्षिप्त पद	सूर कृत पद	योग
प्रथम स्कंध	३८	३०५	३४३
द्वितीय ,,	८	३०	३८
तृतीय ,,	११	२	१३
चतुर्थ ,,	१०	३	१३
पंचम ,,	४	×	४
षष्ठ ,,	७	१	८
सप्तम ,,	५	३	८
अष्टम ,,	१०	७	१७
नवम ,,	२८	१४६	१७४
दशम ,,	२१६	४०९३	४३०९
एकादश ,,	२	२	४
द्वादश ,,	५	×	५
योग	३४४	४५९२	४९३६

तथा दोनों परिशिष्टों में इस प्रकार—

	निश्चित प्रक्षिप्त	संदिग्ध	योग
परिशिष्ट १	५	१९८	२०३
परिशिष्ट २	१	६६	६७
योग	६	२६४	२७०

निष्कर्ष

नागरीप्रचारिणी सभा के सूरसागर को आधार मानकर, कांकरोली-स्थित सूरसागर एवं अन्य अष्टछापी कवियों के ग्रंथों, मुख्यतः सूरसागर एवं परमानंद-सागर की दो विशिष्ट प्राचीन प्रतियों (सूर० १०-६, प० सा० 'ख') के अध्ययन तथा पुष्टिमार्गीय सांप्रदायिक परंपरा के प्रकाश में, सूर के पदों का जो विश्लेषण ऊपर प्रस्तुत किया गया है उसके परिणामस्वरूप हमने देखा कि प्रकाशित ४९३६ 'प्रामाणिक' पदों में भी ३४४ पद प्रक्षिप्त प्रतीत होते है तथा २७० 'प्रक्षिप्त' पदों में भी कुछ तो निश्चित रूप से प्रक्षिप्त हैं तथा शेष में से परीक्षा करने पर कुछ प्रामाणिक भी सिद्ध हो सकते हैं।

उक्त निष्कर्ष पूर्णतः मान्य न हो, तो भी इतना तो स्पष्ट है कि सूरसागर के पदों के संपादन में अभी अन्वेषण-गवेषण के लिये पर्याप्त अवकाश है। सभा के सूरसागर के संपादन में जिन बीस प्राचीन प्रतियों से सहायता ली गई है उनके अतिरिक्त ज्यों ज्यों अन्य प्रतियाँ भी खोज में प्राप्त होती जायँगी त्यों त्यों उनके पाठों के अध्ययन से पदों की प्रामाणिकता एवं प्रक्षिप्तता संबंधी पूर्व निर्णय में कुछ हेरफेर होते रहने की संभावना है। तत्कालीन अन्य भक्त, विशेषतः अष्टछाप के, कवियों के पदों से भी सूरसागर के पदों का सम्यक् मिलान होना आवश्यक है। साथ ही, सूर के पदों का निर्णय करते समय यह भी स्मरणीय है कि श्रीमद्भागवत के प्रसंगों तथा पुष्टिमार्गीय परंपरा के प्रतिकूल अर्थवाले पद निश्चित रूप से सूर कृत नहीं हो सकते, चाहे वे अधिकतर प्रतियों में पाए जायँ; तथा परंपरानुकूल संगत अर्थवाले पद बिना पर्याप्त विरुद्ध प्रमाण मिले त्याज्य नहीं माने जाने चाहिएँ, चाहे वे एकाध ही प्रतियों में मिलें।

उक्त बातों का ध्यान रखते हुए सूरसागर की नवीन प्राप्त प्रतियों से केवल प्रक्षिप्त पदों के निर्णय में ही नहीं, किसी पद का समीचीनतम पाठ निर्धारित करने

में भी उपयोगी सहायता मिल सकती है। इस विषय में हमने विद्याविभाग (काँकरोली) की प्रति १०-६ को, जिसका प्रयोग उपर्युक्त विश्लेषण में किया गया है, उपयोगी पाया है। उसके पाठभेद का एक उदाहरण यहाँ दे देना अप्रासंगिक न होगा। उक्त प्रति (१०-६) का प्रथम पद इस प्रकार पठित है—

बंदो चरन सरोज तुम्हारे।
सुंदर अरुन कमल पल्लव से दसपट चिह्न चारु मनु हारे॥
जे पद परम सदा सिव के धन सिंधु सुता संतत उर धारे।
जे पद परम परसि जल पावन सुरसरि दरस कटत अघ भारे॥
जे पद परम परसि ऋषिपत्नी पाप सिला तन छिनु उधारे।
जे पद परम तात रिपु त्रासत करि करुना प्रल्हाद उधारे॥
जे पद परम परसि ब्रज-भामिनि तन मन दै सुत सदन बिसारे।
जे पद परम रमत वृंदावन अहि सिर धरि अगनित रिपु मारे॥
जे पद परम रमत कौरौं-गृह दूत भए सब काज सँवारे।
ते पद परम सूर सुखकारी त्रिविध ताप दुखहरन हमारे॥

इसका सभा द्वारा मुद्रित पाठ (पद सं० ९४) इस प्रकार है—

बंदौं चरन सरोज तिहारे।
सुंदर स्याम कमल दल लोचन, ललित त्रिभंगी प्रान पियारे॥
जे पद-पदुम सदा सिव के धन, सिंधु-सुता उर तैं नहिं टारे।
जे पद-पदुम तात-रिस-त्रासत, मन बच क्रम प्रहलाद सँभारे॥
जे पद-पदुम-परस-जल-पावन-सुरसरि-दरस कटत अघ भारे।
जे पद-पदुम परस रिषि-पतनी बलि, नृग, ब्याध पतित बहु तारे॥
जे पद-पदुम रमत बृंदावन अहि-सिर धरि अगनित रिपु मारे।
जे पद-पदुम परसि ब्रज भामिनि सरबस दै सुत सदन बिसारे॥
जे पद-पदुम रमत पांडव दल दूत भए, सब काज सँवारे।
सूरदास तेई पद-पंकज त्रिविध-ताप-दुख-हरन हमारे॥

दोनों प्रतियों में उपलब्ध उक्त पद में पाठभेदों के साथ तुकों का परिवर्तन तो है ही, परंतु मुद्रित पद में "सुंदर स्याम कमल दल लोचन, ललित त्रिभंगी प्रान

पियारे"—यह पाठ अप्रासंगिक है। यहाँ चरणों का वर्णन किया जा रहा है, कृष्ण के विशेषणों की आवश्यकता नहीं है। इसके स्थान पर अप्रकाशित पाठ "सुंदर अरुन कमल-पल्लव से दस षट चिह्न चारु मनु हारे" प्रासंगिक भी है और सुंदर भी, जो अन्य किसी भी प्रति में नहीं है।

अंतिम पंक्ति में "सूरदास तेई पद-पंकज" मुद्रित पाठ के स्थान पर अमुद्रित पाठ "ते पद परम सूर सुखकारी" समीचीन-भावनायुक्त है। इसमें पुष्टि-मार्ग के सिद्धांतानुसार 'सुख' और 'दुःखाभाव', दोनों पुरुषार्थों का उल्लेख है, जब कि मुद्रित में केवल त्रिविध-ताप-नाशन का ही उल्लेख हो पाता है।

ऐसे अन्य उदाहरण भी हैं जो विस्तार-भय से यहाँ नहीं दिए जा सकते। प्रस्तुत हस्तलिखित प्रति (१०-६) के पाठों के अनुशीलन से हमारा विचार है कि इसके आधार पर शुद्ध पाठभेद के साथ परिशिष्ट १ (सूरसागर, सभा) के निम्नलिखित पदों को निश्चित रूप से सूर कृत मानकर मूल में सम्मिलित करना चाहिए—

परि०, पद-संख्या	पद-प्रतीक	१०·६, पत्र-संख्या
१४	लरिकाई में जोबन की छबि	२६२।१६
३०	बलि बलि जाऊँ सुभग कपोलनि	२७७।३
५८	देखौ माई सुंदरता की रासि	३१८।८
७५	अति रस बस नैना रतनारे	३२०।१८
८६	देखि सखि लोचन फिरत न फेरे	३३७।५२
९२	देखि री नख-रेख बनी उर	३२३।१४
६३	सुरत समै के चिन्ह राधे जू को	३२२।६
६४	आजु तोहि काहे न आनँद थोर	३२३।१२
६५	तोहिं बोलै री मधु-केसी-मथन	३६१।५६
१००	बिलम तजि भामिनी बिलसि	३५८।३९
१०२	राधा जू के बदन की बलि जाऊँ	३१३।११
१०४	अब लौं किए रहति ही मान	३३३।२२
२४८	निपट छोटे कान्ह सुनि सजनी	२९५।३७
२५६	घूंघट के बगरोट ओट रहि चोट	३२३।१०

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि काशी नागरीप्रचारिणी सभा ने संपूर्ण संपादित सूरसागर का प्रकाशन कर एक महान् कार्य किया है। इस लेखक की दृष्टि में अब पाठभेद सहित सूरसागर के विशिष्ट संस्करण के प्रकाशन के पूर्व सूर के अतिरिक्त अन्य अष्टछापी कवियों का काव्य-संग्रह भी प्रामाणिक तथा संपादित होकर प्रकाशित हो जाना चाहिए।[३४] इससे पारस्परिक पद-विश्लेषण में अधिक सौकर्य होगा।

३४—इसी दृष्टि को लेकर कांकरोली विद्याविभाग द्वारा गोविंद स्वामी और कुंभनदास के पद-संग्रह संपादित एवं प्रकाशित हो चुके हैं। परमानंदसागर संपादित हो चुका है। शेष कवियों की रचनाएँ भी तैयार की जा रही हैं।

विमर्श

माधुर्य-लहरी के कर्ता श्री कृष्णदास

'माधुर्य-लहरी' के कर्ता श्री कृष्णदास निंबार्क संप्रदाय में दीक्षित भक्त थे। हिंदी-साहित्य के प्रारंभिक प्रसिद्ध इतिहास 'मिश्रबंधु विनोद' में लिखा है—

कृष्णदास गिरिजापुर वाले ने माधुर्यलहरी नामक ग्रंथ भादों संवत् १८५२ से वैशाख १८५३ तक बनाया। यह ग्रंथ छतरपूर में है, जिससे इनके विषय की सब बातें जान पड़ती हैं। ये अष्टछापवाले प्रसिद्ध कृष्णदास से इतर कवि थे। इनका ग्रंथ ४२० भारी पृष्ठों का है, जिसमें विविध छंदों में कृष्ण-कथा कही गई है। इनकी गणना साधारण श्रेणी में है। ये विन्ध्याचल के निकट गंगा जी के समीप गिरजापत्तन नामक ग्राम में रहते थे।

'हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण' (सन् १९०० से १९११ तक) में इनके संबंध में यह उल्लेख है—

विंध्याचल के निकट गंगातट पर गिरिजापुर-निवासी, संभव है कि यह गाजीपुर के निवासी हों; सं० १८५२ के लगभग वर्तमान।

भागवत भाषा बारहवाँ स्कंध दे० (ज–१५८ ए)

भागवत माहात्म्य दे० (ज–१५८ बी) (च–६)।

'खोज' (जो संयुक्तप्रांतीय सरकार द्वारा काशी नागरीप्रचारिणी सभा के तत्त्वावधान में होती है) के 'तृतीय त्रैवार्षिक विवरण' में यह टिप्पणी है—

कृष्णदास निंबार्क संप्रदाय के वैष्णव और किसी नागरीदास के शिष्य थे। ये मिरजापुर में रहते थे। [अँगरेजी से उल्था]

ग्रंथ—(१) कृष्णदास के मंगल—स्वामी हरिदास का यश-वर्णन।

(२) माधुर्य लहरी—राधाकृष्ण की आठ पहर की निकुंज लीला वा मानसिक पूजा का वर्णन।

इस प्रकार श्री कृष्णदास के नाम पर चार ग्रंथ मिलते हैं—

(१) भागवत भाषा,

(२) भागवत-माहात्म्य,

(३) कृष्णदास के मंगल,

(४) माधुर्यलहरी।

इनमें से 'भागवत' (भाषा) और भागवत-माहात्म्य वस्तुतः एक ही ग्रंथ के पृथक् अंश हैं। पुराने भागवत के संस्करणों में भागवत-माहात्म्य भी आदि में जुड़ा रहता था। ऐसे ही ग्रंथ का आदि से अंत तक श्री कृष्णदास ने अनुवाद किया था। इनके भागवत के अनुवाद के पृथक्-पृथक् स्कंध भी 'खोज' में मिले हैं। इसके लिये 'खोज' के सन् २०-८७, ९-१५८ ए, २३-२१८ ए से २१८ एल और ४१-४८२ क द्रष्टव्य हैं। अतः 'भागवत' (माहात्म्य सहित) एक ही ग्रंथ है। भागवत के माहात्म्य का वर्णन पद्मपुराण के उत्तरखंड में है। वहीं से भागवत के संस्करणों में वह जोड़ा गया है। भागवत का उल्था कवि ने संवत् १८५२ में आरंभ किया था और माहात्म्य का उल्था संवत् १८५५ में समाप्त हुआ। भागवत भाषा के संबंध में कवि स्वयं लिखता है—

अष्टादस सत जानिये संवत् बावन जोइ।
मास असाढ़ अरंभ कृत रग उत्सव दिन सोइ॥

इसकी समाप्ति भी संवत् १८५५ में ही हुई—

पचपन संवत् पाय पुनि अस्विन मास सुद रूप।
वृषभान सुता साँझी समै पूरन भई अनूप॥

'माहात्म्य' का आरंभ कब हुआ, पता नहीं, पर उसकी पूर्ति निम्नलिखित तिथि को हुई—

अष्टादस सत लीजिए संवत् पंच पचास।
पूरन तिथि पूरन कियौ गुनिये कातिक मास॥

भागवत का उल्था आश्विन में समाप्त हो गया और 'माहात्म्य' कार्तिक पूर्णिमा को समाप्त हुआ। ग्रंथ लगभग सवा तीन सौ अनुष्टुप् श्लोकों में है, इससे कल्पना की जा सकती है कि भागवत समाप्त करके कवि ने 'माहात्म्य' का आरंभ किया होगा और महीने भर में उसे लिख डाला होगा।

अब 'कृष्णदास के मंगल' पर विचार कीजिए। 'खोज' (१२-९७ ए) में इसका उल्लेख हुआ है। ग्रंथ का आरंभ इस प्रकार है—

अथ श्री कृष्णदास जी श्री नागरीदास जू की कृपा को सुषसार तिन कृत्य मंगल। राग सुहा विलाविल। प्रथम जथामति श्री गुरु चरन लड़ाइहौं। उदित मुदित अनुराग प्रेम गुन गाइहौं। देहु सुमति बलि जाउँ अनंद बढ़ाइहौं। आनँद सिंधु बढ़ाइ छिन छिन प्रेम प्रसादहिं पाइहौं। जै श्री वर विहारिनिदास कृपा तें हरषि मंगल गाइहौं।

इससे मुझे तो यह जान पड़ता है कि यह किसी नागरीदास जी की ही रचना है जो श्री विहारिनिदास के शिष्य थे। आरंभ में 'श्री नागरीदास जू की कृपा को सुषसार तिन कृत्य मंगल' में 'तिन कृत्य' वस्तुतः 'तिन कृत' (उनका बनाया) है। अर्थात् ग्रंथ के निर्माता हैं नागरीदास, जिनके इस ग्रंथ को अपने लिये किसी कृष्णदास ने लिखा है। उक्त नागरीदास विहारिनिदास के शिष्य हैं, क्योंकि वे कहते हैं— 'विहारिनिदास कृपा तें हरषि मंगल गाइहौं।' इस हस्तलेख की पुष्पिका में 'इति श्री कृष्णदास कृत मंगल संपूर्ण' अवश्य लिखा है, किंतु यहाँ भूल से 'लिखित' के बदले 'कृत' लिखा गया है अथवा जैसे आरंभ में 'श्री कृष्णदास जी श्री नागरीदास की कृपा' आदि लिखा है उसी प्रकार पूरा विवरण लिखने से छूट गया है।

विहारिनिदास का विवरण 'खोज' में इस प्रकार है—

विट्ठल विपुल जी के शिष्य और सरसदास, नागरीदास (महाराज सावंतसिंह नागरीदास से भिन्न) के गुरु; १७ वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में हुए।

(हस्तलिखि हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण, पृ० १००)

इनके शिष्य 'नागरीदास' का मंगल भी खोज में मिला है। उस 'मंगल' का आरंभ इस प्रकार है—

श्री कुंजविहारनि श्री कुंजविहारी जी। अथ अन्य नृपति श्री स्वामी हरिदास जी को मंगल। श्री नागरीदास जी कृत। राग सूहा विलावल। प्रथम जथामति श्री गुरुचरन लड़ाइहौं। उदित मुदित अनुराग प्रेम गुन गाइहौं। निरषि दंपति संपति सुष रीझि मस्तग नाइहौं। जै श्री वरु विहारनिदास कृपा तें हरषि मंगल गाइहौं।

इस मंगल की कई पंक्तियाँ पूर्व-उद्धृत मंगल से ज्यों की त्यों मिलती हैं। दोनों हस्तलेखों के अंतिम अंश भी मिलान के लिये उद्धृत किए जाते हैं—

मन बच क्रम करि यह जस जो नर गाइहै।
मन वंछत फल वेगि सदा सुष पाइहै।

निज धन सरबस जानि उमगि दुलराइहै।
प्रेम लच्छना भक्ति विपुल रस पाइहै।
रस पाइ विपुल आनंद बाढ्यौ सब जनंम के श्रम गए।
जै श्री बिहारनिदास कृपा तें मन मनोरथ सब गए॥

(खोज; १२–९७ ए)

मन बच क्रम करि यह जो नर गाइहै।
मन वंछित फल वेग सदा सुष पाइहै।
निधुवन सर्वसु जानि उमगि दुलराइहै।
प्रेम लछमना भक्ति विपुल रस पाइहै।
रस पाइ विपुल आनंद बाढ्यौ जन्म जन्म के श्रम गए।
जै श्री वर बिहारनिदास कृपा ते मन मनोरथ सब भए॥

(खोज; ५–४०)

यह साम्य दोनों को एक कहता है। अतः मेरा मत है कि यह रचना नागरीदास की ही है जो भूल से कृष्णदास के नाम पर चढ़ गई है। प्रश्न होता है कि जिन कृष्णदास का इसमें उल्लेख मात्र है वे नागरीदास के शिष्य माधुर्यलहरी के कर्ता ही तो नहीं हैं। यह भी संभव नहीं जान पड़ता। माधुर्यलहरीकार कृष्णदास ने अपने को 'श्री हरिभक्त दास' का शिष्य घोषित किया है—

(१) श्री हरिभक्त सुदास नित वास परम अभिराम।
कृपापात्र तिन जानिये कृष्णदास अस नाम॥

—भागवत भाषा

(खोज, ९–१५८ ए)

(२) श्री हरिभक्त सुदास नित आश्रम पूरक काम।
कृपापात्र तिनको कहैं कृष्णदास जेहि नाम॥

—भागवत माहात्म्य

(खोज, ९–१५८ बी)

(३) श्रीराधावरपादपद्मयुगलं नित्यं शरण्यं भजे,
लब्धं श्रीहरिभक्तदासकृपया तान् स्वान् गुरून् सन्नमे।

—माधुर्यलहरी

(खोज, १२-९७ बी)

इससे ये कृष्णदास उनसे भिन्न हैं। अतः श्री कृष्णदास ने एक तो भागवत का उल्था उसके माहात्म्य सहित किया और दूसरे 'माधुर्यलहरी' लिखी। 'माधुर्यलहरी' का निर्माण-काल इस प्रकार है—

अष्टादस सत लीजिये संवत् बावन संग।
भाद्र मास सुक्ल सिंधु श्री जन्मारंभ तरंग।
तिरपन संवत् कौ यगल अति वैसाख सुमास।
लहरि माधुरी सुभ्र लह्यौ संपूरन मन आस॥

—(खोज, १२-९७ बी)

अब लेखक के वासस्थान का विचार कीजिए। अपने तीनों ग्रंथों में उन्होंने इसका उल्लेख किया है—

(१) विंध्य निकट तट सुरधुनी गिरिजापत्तन ग्राम।

(भागवत भाषा)

(२) विंध्य निकट तट सुरधुनी गिरिजापुर वर नाम।

(भागवत माहात्म्य)

(३) विंधि निकट तट सुरधुनी गिरिजापत्तन ग्राम।

(माधुर्यलहरी)

भागवत भाषा और माधुर्यलहरी में शब्दशः स्थानसंबंधी उल्लेख मिल जाता है। पर भागवत-माहात्म्य में कुछ अंतर है। 'भागवत-माहात्म्य' का यह अंश 'खोज' ९-१५८ बी से दिया गया है। खोज ५-९ में जो अंश उद्धृत है उसमें स्थान के उल्लेखवाला भाग उद्धृत ही नहीं किया गया है। मेरी धारणा है कि 'गिरिजापुर वर नाम' के बदले 'गिरिजापत्तन ग्राम' कदाचित् वहाँ भी होगा। प्रतिलिपिकार की असावधानी से यह परिवर्तन हो गया है। इसका फल यह हुआ है कि 'खोज' में कल्पना की गई है कि यह 'गिरिजापुर' न होकर 'मिरिजापुर' न हो। 'गि' और 'मि' में विशेष अंतर लिखावट में नहीं रह जाता, अतः भूल से 'मिरजा' शब्द 'गिरजा' हो गया। 'गिरिजापुर' के लिये गाजीपुर की बात भी सोची गई है।

यह निश्चय करना कठिन है कि 'गिरिजापत्तन ग्राम' कहाँ था, पर मेरी धारणा यह है कि यह न 'मिरजापुर' है न 'गाजीपुर'। यह ग्राम ही है। 'खोज' का कार्य मिर्जापुर और गाजीपुर दोनों जिलों में एक एक ग्राम की छानबीन के साथ किया

जा चुका है पर इन जिलों की खोज में कहीं किसी के यहाँ इस ग्रंथ की कोई प्रतिलिपि नहीं मिली। यद्यपि यह पर्याप्त प्रमाण नहीं है मिर्जापुर और गाजीपुर की संभावना के परित्याग का, पर गिरिजापत्तन और गिरिजापुर को मिर्जापुर और गाजीपुर मानने का पर्याप्त प्रमाण संभावना करनेवालों के पास भी नहीं है। एक स्थान पर यह भी लिखा है कि यह मिर्जापुर का पुराना नाम है, पर मिर्जापुर गजेटियर तक में इसका पता न चला। हाँ, स्वर्गीय बदरीनारायण जी चौधुरी 'प्रेमघन' मिर्जापुर को मीरजापुर (लक्ष्मीपुर) अवश्य कहा करते थे, वह भी कदाचित् वस्तुगति से नहीं।

—विश्वनाथप्रसाद मिश्र

*

सौभरि रचित एकार्थ-नाममाला तथा द्व्यर्थ-नाममाला

नागरीप्रचारिणी पत्रिका के वर्ष ५९ के प्रथम अंक में श्री रामशंकर भट्टाचार्य का 'संस्कृत कोशों के शब्द-संकलन के प्रकार' शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ है। लेख विद्वत्तापूर्ण एवं ज्ञानवर्धक है। उसके संबंध में यहाँ आवश्यक वक्तव्य यह है कि संस्कृत भाषा के कोश-ग्रंथों की संख्या शताधिक है, अतः अभी कितने ही छोटे बड़े कोश भट्टाचार्य जी की जानकारी में न आए होंगे, जिनसे उनके द्वारा चर्चित शब्द-संकलन-प्रकार विषयक ज्ञान में और वृद्धि की संभावना है। पचीसों ऐसे छोटे छोटे कोश हैं जिन सबका एकत्र संग्रह प्रकाशित होना आवश्यक है।

भट्टाचार्य जी के उक्त लेख में पृष्ठ १४ पर लिखा है—"अर्थ-निर्देश में आचार्य सौभरि के दो कोश महत्त्वपूर्ण हैं। ग्रंथ यद्यपि अनुपलब्ध हैं तथापि उनके नाम से उनकी रचना-पद्धति का कथंचित् ज्ञान हो जाता है। ग्रंथ के नाम हैं—एकार्थ-नाममाला तथा द्व्यर्थ-नाममाला। ज्ञात होता है इनमें यथाक्रम एक अर्थवाले तथा दो अर्थवाले शब्दों का संग्रह था, यद्यपि इनमें शब्द-स्थापना का क्या क्रम था यह अविज्ञात है। इन कोशों की उपयोगिता श्लेषप्रिय कवियों के लिये है।"

उक्त उल्लेख के अनुसार सौभरि के दोनों कोश अनुपलब्ध हैं, परंतु वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। अभी तक ये प्रकाशित तो अवश्य नहीं हुए हैं, पर इनकी हस्त-

लिखित प्रतियाँ कई मिलती हैं। नाहटा-संग्रह (बीकानेर) तथा अन्य भंडारों में भी इनकी प्रतियाँ सुलभ हैं। अनूप संस्कृत पुस्तकालय में सं० १६३९ की लिखी सोलह पृष्ठों की प्रति में ये दोनों कोश प्राप्त हैं।

तीन वर्ष पहले मुनि पुण्यविजय जी को बीकानेर के बृहद् ज्ञानभंडार का निरीक्षण करते समय एकार्थ-नाममाला कोश छोटे छोटे कई मिले थे। उन्होंने उन सबको संपादित कर एक कोशसंग्रह प्रकाशित करने की इच्छा से उनकी पांडुलिपि भी तैयार करा ली है और अब नाहटा-संग्रह तथा बृहद् ज्ञानभंडार की प्रतियों से उसका मिलान कर रहे हैं। अतः उन कोशों का विशेष परिचय यहाँ देना संभव नहीं। पूना के डेकन कालेज के प्रकाशनों की सद्यःप्राप्त सूची से विदित हुआ है कि सौभरि के उपर्युक्त दोनों कोश श्री ई० डी० कुलकर्णी द्वारा संपादित होकर प्रेस में जा चुके हैं, अतः उनके शीघ्र ही प्रकाशित हो जाने की आशा है।

वैसे इस शैली के कुछ ग्रंथ जैन ग्रंथो के साथ पहले प्रकाशित भी हो चुके हैं। यथा, देवचंद लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था (सूरत) से प्रकाशित आचार्य हेमचंद्र रचित 'अभिधान-चिंतामणि' कोश के परिशिष्ट में ४८ श्लोकों का एकाक्षरी कोश तथा जैन विद्वान् मलधारी-गच्छीय राजशेखर सूरि के शिष्य सुधाकलश द्वारा रचित एकाक्षर नाममाला आदि कोश प्रकाशित हुए हैं। सुधाकलश की एकाक्षर-नाममाला के साथ विश्वशंभु रचित एकाक्षर-नाममालिका नामक ११५ श्लोकों का कोश उपर्युक्त संस्था से प्रकाशित 'अनेकार्थरत्नमंजूषा' में छप चुका है।

—अगरचंद नाहटा

•

राधावल्लभीय चतुर्भुजदास कृत ग्रंथ

'द्वादश यश', 'भक्तिप्रताप' और 'हित जू को मंगल'—इन तीन ग्रंथों को हिंदी साहित्य के सभी इतिहासों में अष्टछापी भक्त कवि चतुर्भुजदास कृत लिखा है, केवल मिश्रबंधुओं ने अपने 'विनोद' में इन ग्रंथों को राधावल्लभीय चतुर्भुजदास कृत भी लिखा है।[1] वस्तुतः ये ग्रंथ अष्टछापी चतुर्भुजदास के न होकर राधावल्लभीय

१—मि० बं० वि०, द्वितीय भाग (द्वि० सं०), पृ० ४०१

चतुर्भुजदास के ही हैं। इन ग्रंथों में इन्होंने स्थान स्थान पर राधावल्लभीय मत के प्रवर्तक हित हरिवंश जी का उल्लेख किया है और प्रारंभ में हित जी की ही स्तुति की है। यथा—

श्री हरिवंश सुमिरि वर नामहिं। अंतरभूत सकल सुख जामहि ॥

(द्वादश यश, शिक्षा सकल समाज बानी यश १, पृ० १, पद १)

प्रथम सु श्री हरिवंश नाम मंगलमय मंगल गाऊँ जू।

(द्वादश यश, धर्मविचार यश २, पृ० ६, पद १)

'हित जू को मंगल' ग्रंथ के तो नाम से ही हित हरिवंश जी का संकेत स्पष्ट है। अतः ये ग्रंथ निश्चित रूप से राधावल्लभीय चतुर्भुजदास कृत ही हैं।

दूसरी बात उक्त ग्रंथों के संबंध में यह है कि जहाँ तक मुझे अनुसंधान से पता चला है, ये तीन स्वतंत्र ग्रंथ नहीं हैं। हित हरिवंश जी के विषय में शोध करते हुए मुझे 'द्वादश यश' की एक प्रति प्राप्त हुई थी। यह ग्रंथ बारह 'यशों' में समाप्त हुआ है और इसी कारण इसका नाम 'द्वादश यश' है। यशों के नाम इस प्रकार हैं—१—शिक्षा सकल समाज बानी यश, २–धर्मविचार यश, ३—भक्ति-प्रताप यश., ४—संत प्रकाश यश, ५—शिक्षासार यश, ६—हितोपदेश यश, ८—मोहिनी यश, ९—अनन्य भजन यश, १०—राधा जू प्रताप यश, ११—मंगलसार यश, १२—विमुख मुख भंजन यश।

डा० दीनदयालु गुप्त ने अपने प्रबंध 'अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय' में चतुर्भुजदास के ग्रंथों की प्रामाणिकता पर विचार करते हुए 'भक्तिप्रताप' ग्रंथ पर भी विचार किया है और इसके कुछ उद्धरण भी दिए हैं। 'द्वादश यश' के 'भक्तिप्रताप यश' में इन उद्धरणों को देखकर मैंने दोनों का मिलान किया तो दोनों को एक पाया। इससे निश्चित हो गया कि 'भक्तिप्रताप' स्वतंत्र ग्रंथ न होकर 'द्वादशयश' का ही एक 'यश' है।

मिश्रबंधुओं ने राधावल्लभीय चतुर्भुजदास के ग्यारह और ग्रंथों का उल्लेख किया है और उनकी पद-संख्याएँ भी दी हैं।[२] इन सब ग्रंथों के नामों और पद-

२—वही, पृ० ४०१, कवि सं० २८०

संख्याओं का 'द्वादश यश' के यशों से मिलान करने पर ज्ञात हुआ कि ये ग्यारह भी कोई स्वतंत्र नहीं, केवल अलग अलग लिखे हुए 'यश' ही हैं।

'हित जू के मंगल' के कोई उद्धरण प्रयत्न करने पर भी प्राप्त नहीं हुए। यदि यह 'मंगल' भी कोई 'यश' ही सिद्ध हो तो राधावल्लभीय चतुर्भुजदास कृत एक ही ग्रंथ—'द्वादश यश'—मानना पड़ेगा। संस्कृत में अवश्य इनका एक और ग्रंथ 'तत्त्वबोध' नाम का पाया जाता है।

मिश्रबंधुओं ने 'द्वादश यश' का रचनाकाल सं० १५६० दिया है[३] जो सर्वथा अशुद्ध है। ग्रंथ में रचनाकाल सं० १६८६ दिया है—

संवत् सोरह सै चौरासी अधिक द्वै बरष सिरानी जू।
मुरलीधर वर भक्त चतुर्भुजदास प्रताप बखानी जू॥

(धर्मविचार यश, पृ० ६, अंतिम अंश)

— वेदप्रकाश गर्ग

३—वही, प्रथम भाग (प्र० सं०) पृ० २७६; यहाँ मिश्रबंधुओं ने इसे अष्टछापी चतुर्भुजदास कृत ग्रंथ लिखा है और रचनाकाल पर स्वयं संदेह भी प्रकट किया है।

चयन

भारत-ईरानी अध्ययन का नया दृष्टिकोण

अंग्रेजी की 'विश्वभारती कार्टर्ली' पत्रिका, भाग १९ अंक १, १९५४ में संस्कृत साहित्य और भारतीय संस्कृति के प्रसिद्ध विद्वान् एवं पोषक श्री सी० कुन्हन राजा का 'ए न्यू ओरिएंटेशन टु द इंडो-इरानियन स्टडीज़' शीर्षक महत्त्वपूर्ण लेख प्रकाशित हुआ है, जिसका मुख्यांश हिंदी में यहाँ प्रस्तुत है—

मेरा सदा से यह मत रहा है कि जब से अवेस्ता और वेदों का तुलनात्मक अध्ययन आरंभ हुआ तभी से दोनों के घनिष्ठ संबंध को बहुत अधिक बढ़ा-चढ़ाकर बताया जाता रहा है। पश्चिम में प्राच्य विद्याओं के अध्ययन में भाषाशास्त्रीय पक्ष पर आवश्यकता से अधिक बल दिया गया है। प्राच्य भाषाओं का अध्ययन भाषाशास्त्र की दृष्टि से किया जा रहा है, संस्कृति के विषय में पाश्चात्य विद्वान् ग्रीक और लैटिन से ही संतुष्ट हैं। पाश्चात्य प्राच्य-विद्या-विशारदों की दृष्टि में प्राच्य भाषाएँ केवल भाषाशास्त्रीय सिद्धांतों तथा मानव सभ्यता की प्रारंभिक अवस्थाओं के नमूने मात्र हैं।

भाषाशास्त्रीय दृष्टि से अवेस्ता और वेदों, विशेषतः ऋग्वेद, के घनिष्ठ संबंध को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। परंतु कठिनाई तब उपस्थित होती है जब दोनों के भाषागत संबंध से कुछ अन्य निष्कर्ष निकाले जाते हैं। इस संबंध के आधार पर यह भी माना जाता है कि अवेस्ता और ऋग्वेद का काल भी प्रायः एक ही है। अवेस्ता का समय १००० ई० पू० निश्चित किया गया है, तब ऋग्वेद का काल भी इसके बहुत पहले नहीं जा सकता। सिंधुघाटी सभ्यता से वेदों की उत्तरकालीनता स्वयं सिद्ध सी मान ली गई है और आर्यों के भारत में आने का काल इस सभ्यता के समय (२००० ई० पू०) के बाद रखा गया है। इस प्रकार भारत में एक नई वैदिक सभ्यता का विकास कल्पित किया गया है, जिसका समय ई० पू० १४०० के बाद ही हो सकता है।

भाषाशास्त्रीय सिद्धांतों से प्रभावित रॉथ आदि विद्वानों के मतानुसार वेद का उत्तरकालीन संस्कृत साहित्य की अपेक्षा अवेस्ता से निकटतर संबंध है, अतः इस भाषागत साम्य के आधार पर ही वेद का अर्थ करना चाहिए, वेदाध्यायी के लिये संस्कृत का संपूर्ण वेदानुवाची साहित्य व्यर्थ है। इसके विरुद्ध सबसे पहले गेल्डनर ने यह मत प्रकट किया कि भारत में वैदिक परंपरा अखंड है और वेद का सच्चा अर्थ जानने में उस परंपरा का विशेष महत्त्व है। परंतु पहला मत ही अधिकतर मान्य रहा और भारतीय-विद्या-विशारद सामान्यतः उसी को मानते हैं।

मैं भाषाशास्त्र के अध्ययन का विरोधी नहीं हूँ, परंतु भारतीय विद्याओं के अध्ययन पर इसके प्रभाव की कोई सीमा होनी चाहिए। भाषाशास्त्र की बाढ़ में सांस्कृतिक पक्ष को डुबो नहीं देना चाहिए। मेरा तो मत है कि भाषाशास्त्रीय दृष्टि से भी ऋग्वेद और अवेस्ता के आंतर साम्य पर आवश्यकता से अधिक जोर दिया गया है। ऋग्वेद और अवेस्ता के व्याकरण का ढाँचा बहुत कुछ समान है, परंतु भाषा में व्याकरण के ढाँचे के अतिरिक्त और भी बातें होती हैं। इस दृष्टि से दोनों में बहुत अंतर है। प्राचीन संस्कृत का ज्ञाता ऋग्वेद को बहुत कुछ समझ लेता है और भाष्य की सहायता से तो वह उसे पूर्ण रूप से अवगत कर लेता है। परंतु ऋग्वेद का ज्ञाता अवेस्ता को बिना विशेष अध्ययन के नहीं समझ सकता। दोनों के शब्दों में बहुत अंतर है और दोनों का व्याकरण-साम्य भी कोई भाषाशास्त्री ही समझ सकता है।

भाषाशास्त्रीय पक्षपात के कारण भारतीय-विद्याध्ययन में बड़ी कठिनाइयाँ उपस्थित हो गई हैं और भाषाशास्त्रीय प्रमाणों के आगे सांस्कृतिक तथ्य सदैव उपेक्षित होते रहे हैं। बंबई भारतीय विद्याभवन से प्रकाशित 'भारतीय इतिहास एवं संस्कृति—वैदिक युग' ('हिस्ट्री ऐंड कल्चर ऑव दि इंडियन पीप्ल—वेदिक एज') ग्रंथ में पृ० २०३ पर लिखा है—"शुद्ध भाषाशास्त्रीय दृष्टि से ऋग्वेद अपने वर्तमान रूप में ई० पू० १००० से पहले समयांकित नहीं किया जा सकता। प्राचीन अंग्रेजी प्राचीन उच्च जर्मन से जितनी भिन्न है, ऋग्वेद की भाषा अवेस्ता की गाथाओं की भाषा से उसकी अपेक्षा अधिक भिन्न नहीं है, अतः ऋग्वेद का भी लगभग वही काल निश्चित करना चाहिए जो अवेस्ता का।" इस प्रकार ऋग्वेद का समय ई० पू० १००० से पहले नहीं जा सकता।

इसके साथ ही यह भी माना जाता है कि आर्य लोग ऋग्वेद - काल से बहुत

पहले भारत में नहीं आ सके होंगे और भारत ईरानी लोगों का एक स्थान में निवास २००० ई० पू० के बाद ही रहा होगा जब हत्तियों ने उनके देश पर अधिकार कर लिया था। इस प्रकार भारत-ईरानियों का भारत आना, दोनों शाखाओं का एक एक दूसरे से अलग होना, आर्य क्षेत्र का पूर्व की ओर बढ़कर भारत में विस्तार, ऋग्वेद की रचना—ये सभी घटनाएँ ई० पू० १००० से पहले के केवल चार सौ वर्षों के भीतर कस दी जाती हैं। "शुद्ध भाषाशास्त्रीय दृष्टि से" यह भले ही मान लिया जाय, परंतु संस्कृति के विकास के विषय में क्या कहा जायगा ?

वस्तुतः 'सोम' और 'हओम' के अतिरिक्त अवेस्ता और ऋग्वेद में कोई संबंध नहीं है। ऋग्वेद का कोई प्रमुख देवता अवेस्ता में नहीं पाया जाता और कुछ—जैसे इंद्र और नासत्य देवताओं का तो अवेस्ता में बिलकुल स्वरूप ही बदल गया है। स्यात् ऋग्वेद के केवल 'मित्र' ही अवेस्ता में रह गए; 'अपांनपात्' की भी कुछ समान बातें दोनों में मिलती हैं। किंतु वरुण, सूर्य और सविता, पूषा और विष्णु, उषा और अश्विन, रुद्र और मरुत् इनमें से कोई भी अवेस्ता में नहीं है। वृत्रघ्न अवेस्ता में 'यज़त' (यजत) है और इंद्र देव' (शैतान) हो गए हैं। यही हाल नासत्य का है। ऋग्वेद के यम (ऊर्ध्व-लोकस्थ) अवेस्ता में पृथ्वी पर के एक राजा हो गए हैं। वे विवस्वान् के पुत्र हैं परंतु विवस्वान् के दूसरे पुत्र मनु का, जो राजा, व्यवस्थापक और मानव जाति के आदि जनक हैं, अवेस्ता में कोई स्थान ही नहीं है।

गाथा और ऋग्वेद में सांस्कृतिक समानता कुछ भी नहीं है। स्यात् केवल इतनी ही समानता दोनों में है कि दोनों छंदों में रचित हैं। गाथा में केवल थोड़े से अंश में विभिन्न देवताओं के लिये प्रार्थनाएँ हैं, जब कि ऋग्वेद के अधिकांश में। ऋग्वेद में एक राष्ट्र द्वारा की गई देवताओं की स्तुतियाँ हैं जब कि संपूर्ण गाथाएँ केवल एक व्यक्ति की रचना हैं जो एक नए धर्ममत का संस्थापक माना गया है। ऋग्वेद में अनेक जातियों और राजाओं के नाम हैं किंतु अवेस्ता में उनमें से एक का भी उल्लेख नहीं है।

अवेस्ता का 'मज़हब' एकेश्वरवादी है परंतु ऋग्वेद का धर्म बहुदेववादी है। जो हम ऋग्वेद में पाते हैं वही महाभारत में। मोक्षमूलर के इस मत का कि भारत में बहुदेववाद से एकेश्वरवाद और एकेश्वरवाद से अद्वैतवाद का विकास हुआ, ऋग्वेद के तथ्यों से कोई संबंध नहीं है। ऋग्वेदीय धर्म में बहुत से देवों की

उपासना है और प्रत्येक देव अन्य सबसे बड़ा है, परंतु अवेस्ता का धर्म वस्तुतः एकेश्वरवादी है। अहुरमज्द जगत् के स्रष्टा हैं, परंतु ऋग्वेद के किसी एक देव ने सृष्टि की रचना नहीं की। अवेस्ता के अनुसार अहुरमज्द ने जगत् के सत् भाग की रचना की और अंग्रमन्यु ने असत् भाग की।

यह भी विचारणीय है कि समानार्थक 'असुर' और 'देव' में असुर तो असत्‌रूप हो गए और देव ऋग्वेद में सत्‌शक्तियों के ही रूप में बने रहे। 'देव' का अर्थ है 'प्रकाशमान', सत्‌शक्तियाँ, और सभी आर्य भाषाओं में इसका यही अर्थ होना चाहिए। पर ईरानी परंपरा में 'देव' का कोई अच्छा अर्थ नहीं है। ऋग्वेद में देव और असुर दोनों सत् शक्तियाँ हैं, परंतु अन्य संहिताओं और उत्तरकालीन भारतीय परंपरा में असुर असत् माने गए। भारतीय परंपरा में 'असुर' का अर्थ बदला, और ईरानी परंपरा में 'देव' का। मैं यह नहीं मानता कि असुर 'उच्चतर (असीरियन) सभ्यता से उधार लिया हुआ शब्द' है। मेरी दृष्टि में वैदिक और अवेस्ती परंपराओं के, दो विरोधी धर्मों के रूप में एक दूसरे से पृथक् हो जाने का कारण कोई बाहरी प्रभाव होना चाहिए; और यह प्रबल प्रभाव असीरियन सभ्यता का रहा होगा जो ऋग्वेद और अन्य वेदों के बीच के समय में पड़ा। संहिताओं में वर्णित तथ्यों की परीक्षा से विदित होता है कि उक्त दीर्घ कालांतर में किसी अन्य महान् सभ्यता का जन्म हुआ था जो ऋग्वेदीय सभ्यता की प्रतिद्वंद्विनी थी। इस द्वंद्व में ऋग्वेदीय सभ्यता की ही विजय हुई।

ऋग्वेद में ऐसा कोई देव नहीं है जिसका अहुरमज्द के रूप में विकास संभव हो। वरुण जगत् के स्रष्टा नहीं हैं। ऋग्वेद में वरुण एक अदृश्य शक्ति के रूप में हैं जब कि अहुरमज्द का एक रूप और व्यक्तित्व है। अहुरमज्द का विकास संभवतः एक दूसरी—अस्सुरी—सभ्यता के धर्म से हुआ जिसके महान् देव अस्सुर थे। अहुरमज्द के छः अमेष स्पेंतों में से भी कोई ऋग्वेद का देव नहीं है, कुछ तो कोई देव ही नहीं हैं। ऋग्वेद की कोई भी ऋचा वा उसका कोई अंश वसु मनस की स्तुति में नहीं है।

यह संभव है कि ऋग्वेदीय बहुदेववाद से अवेस्ती एकेश्वरवाद के विकास में यजुर्वेद के प्रजापति का कुछ प्रभाव रहा हो, परंतु भारत में सांप्रदायिक धर्म के रूप में एकेश्वरवाद का विकास कई शताब्दियों बाद हुआ।

सिंधुघाटी सभ्यता के काल के विषय में दो मत हैं—एक उसे ऋग्वेद के पहले की मानता है, दूसरा बाद की। दोनों के समकालीन होने की संभावना पर गंभीरता से विचार नहीं किया गया और दोनों की पूर्वापरता को तथ्य मान लिया गया है।

अवेस्ता में मनुष्यों के कार्यों में दो शक्तियों का जैसा विरोध पाया जाता है वैसा ऋग्वेद में नहीं। ऋग्वेद में विरोध एक ही जाति के लोगों में देवोपासकों और अदेवोपासकों के बीच पाया जाता है। ये अदेवोपासक (अराति) किसी समय बहुत प्रबल हो गए रहे होंगे और अंत में देवोपासकों द्वारा पराजित हुए होंगे। यदि वेदकाल में बेबीलोन और सिंधुघाटी की सभ्यताएँ समाप्त हो चुकी थीं तो फिर वे कौन लोग थे जिनसे आर्यों को लड़ना पड़ा? आर्यों के शत्रु तो सुरक्षित नगरों में रहते थे, वे नवीन प्रदेश के कमजोर आदिवासी नहीं थे जिन्हें वे आसानी से जीत सकते।

ऋग्वेद के कर्ता ऋषिगण केवल तीन पीढ़ियों के हैं, अतः वर्तमान ऋग्वेद संहिता एक सौ वर्ष से अधिक की रचना नहीं हो सकती। परंतु अपने पूर्व की अत्यंत प्राचीन परंपरा इन ऋषियों की स्मृति में विद्यमान थी। कालांतर में उनकी परंपरा खंडित हो गई, जिसे हम अन्य वेदों और ब्राह्मणों में पुनः एक बिलकुल नए रूप में पाते हैं जिसमें असुर देवों के शत्रु हो जाते हैं। इस बात को हम और अच्छी तरह समझ सकते हैं यदि हम यह मान लें कि ऋग्वेदीय सभ्यता का आरंभ असीरियन या सिंधुघाटी सभ्यता से पहले हुआ था और इन सभ्यताओं से कुछ समय के लिये बाधित होकर वह पुनः एक नए रूप में उठ खड़ी हुई।

इस बात का कोई भी प्रमाण नहीं है कि आर्यों की सभ्यता असीरियन वा सिंधुघाटी सभ्यता के समान ही उन्नत नहीं थी। ऋग्वेदीय आर्यों ने जिस स्तर पर कला और शिल्पों का विकास कर लिया था उससे स्पष्ट है कि वे नगरों अथवा सभ्य-जीवन-सुलभ सुविधाओं से अपरिचित वा विरक्त नहीं थे। अतः दोनों सभ्यताओं में कोई विरोध न मानकर विरोध केवल उनके धर्मों में समझना चाहिए। उन दोनों धर्मों में भेद यही था कि एक इंद्रादि अनेक देवों का पूजक था, दूसरा उसके विरोध में एक महान् देव अहुर का।

यह निश्चित रूप से सत्य मान लिया गया है कि जो बात ऋग्वेद और अवेस्ता में समान रूप से पाई जाय वह सामान्य भारत-ईरानी काल की है और जो

बात अवेस्ता में न पाई जाय वह भारतीय शाखा के आर्यों द्वारा उस समय रची गई जब वे अपने मूल समुदाय से पृथक् होकर भारत में आए। यहाँ भी हमें नवीन दृष्टिकोण से विचार करना चाहिए। अवेस्ता में भारत-ईरानी सभ्यता की सभी विशेषताएँ रक्षित नहीं हैं। मूल परंपरा में से ईरानी आर्यों द्वारा बहुत सी बातें छोड़ दी गईं जो भारतीय परंपरा में सुरक्षित रहीं। यदि कोई देव अवेस्ता में नहीं है तो इसी कारण वह भारतीय आर्यों द्वारा कल्पित नहीं माना जा सकता।

'केस्सी' और ऋग्वेद के 'केशी' (= अश्व) की एकार्थता के पक्ष में बहुत कुछ कहा जा सकता है। वेद के 'मितज्ञु' की 'मितानी' से पहचान भी विचारणीय है। बोगेजकोई अभिलेखों से विदित है कि हत्ती-मित्तानी परंपरा वैदिक देवों से परिचित थी। और पश्चिम की ओर मिश्र में अल-अमरना के अभिलेखों में पाए गए कुल-नामों पर कुछ आर्य प्रभाव लक्षित होता है। यह सत्य है कि आर्यों का वर्णन हम केवल अवेस्ती और ऋग्वेदीय परंपरा में ही पाते हैं, परंतु मित्तानी, केस्सी और हत्ती ये सभी आर्य थे। केस्सियों ने ई० पू० २००० के अनंतर ही असीरिया पर आक्रमण किया था।

इन सब तथ्यों के आधार पर हमें यह मानने में आपत्ति न होनी चाहिए कि उस काल में एक आर्य धर्म का विकास हुआ था जो ऋग्वेद में सुरक्षित है। उसका एक उत्तरकालीन रूप हम ऋग्वेदीय परंपरा के खंडित होने पर अन्य वेदों में पाते हैं तथा उसका एक अन्य धर्मों से प्रभावित एवं दृढ़ एकेश्वरवादी रूप अवेस्ता में मिलता है।

यदि हमें सांस्कृतिक साम्य ढूँढ़ना हो तो अवेस्ता का अध्ययन सांस्कृतिक दृष्टि से भारतीय पुराणों के साथ करना चाहिए, न कि ऋग्वेद के साथ। गाथा (यस्न २९) का कृष्णावतार के पूर्व की उन घटनाओं के साथ अद्‌भुत साम्य है जिनमें असुरों के अत्याचार से पीड़ित पृथ्वी भगवान् के पास जाकर मुक्ति के लिये प्रार्थना करती है। गाथा का विषय भी यही है। यह विषय पृथक् विचारणीय है। यहाँ मैं इस बात पर जोर देना चाहता हूँ कि यदि भारतीय विद्या भाषाशास्त्र के अत्याचार से मुक्त हो जाय तो ऋग्वेद को अवेस्ता के काल-बंधन से छुड़ाकर सहज ही उसके बहुत पहले ले जाया जा सकता है। भाषाओं के अध्ययन के लिये मैं भाषाशास्त्र के उपयोग का विरोधी नहीं हूँ। भाषाशास्त्र के बिना ऋग्वेद और

अवेस्ता का तुलनात्मक अध्ययन असंभव है। परंतु भाषाशास्त्र का उपयोग भाषा संबंधी विषयों के अध्ययन के लिये ही होना चाहिए, सांस्कृतिक प्रश्नों को उसके नीचे नहीं दबाना चाहिए। काल-निर्णय के संबंध में भाषा-साम्य से कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि भाषाएँ एकदम घड़ी के काँटों की तरह निश्चित नियम से नहीं बदला करतीं। भाषाओं और संस्कृतियों में परिवर्तन बाह्य संस्कृतियों के संपर्क से हुआ करता है और काल-निर्णय में यह संपर्क अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। ऋग्वेद से अवेस्ता तथा अन्य वेदों तक संस्कृति में जो परिवर्तन हुए उन्हें बाह्य संस्कृति के संपर्क के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से नहीं समझा जा सकता। यह बाह्य संस्कृति, जहाँ तक हम समझते हैं, असीरियन और सिंधुघाटी संस्कृति के अतिरिक्त अन्य कोई संस्कृति नहीं हो सकती। सांस्कृतिक दृष्टि से परीक्षा करने पर ऋग्वेद को अवेस्ता की अपेक्षा बहुत पहले ले जाना पड़ेगा। ऋग्वेद और अवेस्ता का संस्कृति के साक्ष्य के रूप में (भाषाशास्त्रीय उदाहरण के रूप में नहीं) अध्ययन करते समय इस नवीन दृष्टिकोण को सामने रखना आवश्यक है।

निर्देश

हिंदी

अपभ्रंश साहित्य: एक संक्षिप्त परिचय—राजकुमार जैन; 'जैन सिद्धांत भास्कर', २०१२ [उक्त पत्रिका २०११ से क्रमशः। अपभ्रंश के प्रकाशित एवं अप्रकाशित ज्ञात साहित्य—महाकाव्य, खंडकाव्य, कथा-साहित्य आदि—का परिचय।]

इतिहास का पुनर्नवीकरण—संपादकीय; 'आलोचना' ३ ४, १९५४ [प्रत्येक युग की समस्याओं के निदान और समाधान के लिये परंपरा और परिस्थिति के समन्वित पर्यवेक्षण की आवश्यकता है। इस दृष्टि से हिंदी साहित्य का इतिहास युग-जीवन की प्रगति के साथ नहीं चल सका है। पहले तो सामग्री ही अपूर्ण है, फिर प्राप्त सामग्री का अर्थानुध्याय और अनुचिंतन कम हुआ है। इसके बिना इतिहास निर्जीव। आधुनिक भाषाओं का तुलनात्मक विवेचन तथा अन्य प्रकार के इतिहास की प्रगति का ज्ञान भी आवश्यक। साथ ही कवियों और लेखकों के व्यक्तित्व का भी ध्यान रहना चाहिए। केवल शास्त्रीय या सामाजिक समीक्षा एकांगी। दोनों के समन्वय में ही इतिहासकार का दृष्टिकोण॥ वैज्ञानिक प्रणाली पर इतिहास नहीं लिखे गए। मार्क्सीय द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का दृष्टिकोण पुराना, सरल, एकांगी,

हास्यास्पद। इतिहास के उपकरणों के विन्यास और नियोजन में वैज्ञानिक पद्धति अपेक्षित, किंतु उनकी व्याख्या और परिभाषा का नया दृष्टिकोण नए इतिहास में आवश्यक। साहित्य का जो इतिहासकार शाश्वत सत्य के अविरोधी युगसत्य को जितना ही आत्मसात् करके उसे शाश्वत सौंदर्य - सिद्धांतों के अविरोधी युगीन सिद्धांतों से समन्वित करने में सफल हो सके उसका ऐतिहासिक दृष्टिकोण उतना ही सार्थक होगा। वही इतिहास के नवीकरण का दायित्व सँभाल सकेगा।]

कुछ हिंदी शब्दों की व्युत्पत्ति—भोलानाथ तिवारी; सम्मेलन पत्रिका, ४०।१, २०११ [अमृतबान, बेरीबेरी, कुली, कलई, कांजी और दाम शब्दों की व्युत्पत्ति पर विचार किया गया है।]

खड़ी बोली नाम का इतिहास—मातावदल जायसवाल; 'हिंदी अनुशीलन' ७।१, २०११ [विद्वानों ने अब तक 'खड़ी बोली' की जो व्युत्पत्ति बताई है उसकी समीक्षा करते हुए निष्कर्ष निकाला है कि 'खड़ी बोली' नाम व्रजभाषा के विरोध में नहीं पड़ा, यह पहले से प्रचलित भाषा थी, नामकरण इस युग में हुआ; उर्दू के विरोध में यह 'शुद्ध' भाषा के अर्थ में 'खड़ी' कहलाई। उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध से आज तक अधिकांश विद्वान् इसे मेरठ - दिल्ली की बोली मानते आए हैं। आज ५० वर्षों से इसका नाम 'हिंदी' है, इसी का प्रचलन होना चाहिए।]

जायसी - ग्रंथावली की एक अतिप्राचीन प्रति और उसका पाठ—डा० माताप्रसाद गुप्त; 'साहित्य' ४।४ [बिहार रिसर्च सोसायटी पत्रिका, ३९।१-२ में प्रो० अस्करी ने 'ए न्यूली डिस्कवर्ड वाल्यूम आव् अवधी वर्क्स' शीर्षक लेख में बिहार के मनेरशरीफ के खानकाह में प्राप्त एक हस्तलिखित ग्रंथसंग्रह का परिचय दिया है जिसमें जायसी के पद्मावत, अखरावट और महरी बाईसी ग्रंथ भी हैं। प्रो० अस्करी ने शुक्ल जी तथा डा० गुप्त की जायसी-ग्रंथावली के पाठों से इनके पाठों की तुलना भी की है। प्रस्तुत लेख में डा० गुप्त ने उनके निष्कर्षों पर विचार करते हुए मनेर-पाठ का स्थान तथा महत्त्व निर्धारित करने का प्रयास किया है। मनेर-पाठ के द्वारा अधिकांश इन्हीं के पाठ का समर्थन हुआ है और इनकी इस पूर्व स्थापना का भी कि जायसी ने मूल पद्मावत नागरी में हिंदुओं के लिये लिखा था।]

तुलसी के जीवन पर नया प्रकाश—चंद्रबली पांडे; हिंदी अनुशीलन, ७।१, २०११ [तुलसी की रचनाओं के अध्ययन के आधार पर यह मत प्रकट किया है कि

तुलसी का जन्मस्थान अयोध्या है, उनका बचपन भी वहीं के मुख्य मंदिर में बीता। संभवतः बाबर के अत्याचार से रामचरित की कल्पना हुई और बाबा नरहरि ने सूकरखेत को इसकी चर्चा का अड्डा बनाया। 'एक तापस' के रूप में रामबोला कुछ दिन चित्रकूट भी रहे। उन्होंने हुलसी से विवाह किया, फिर वे उसके नैहर के इस पार मझगवाँ में बसे जहाँ राजापुर बस गया। गृहस्थ-जीवन राजापुर में बीता। ससुराल महेवा में पत्नी की फटकार मिली तो काशी आए जहाँ हनुमान की कृपा से इष्ट राम का बोध हुआ।]

तुलसीदास का 'मास दिवस'—रामनरेश त्रिपाठी; 'पाटल', जूलाई १९५४ [रामचरितमानस में पाँच स्थलों पर 'मास दिवस' का प्रयोग है। पाँचों स्थलों पर उसका अर्थ बारह दिन होने की संभावना की गई है।]

नई कविता का भविष्य—गिरिजाकुमार माथुर; आलोचना, ३।४ [सन् ३७ से आजतक की हिंदी कविता का विश्लेषण। ३७ से ४७ तक छायावाद की ह्रासोन्मुख अवस्था में कविता में तात्त्विक परिवर्तन और नाना वादों का आविष्कार हुआ जिनमें भेद नाम मात्र का था। ४२–४३ के तूफान में छायावाद बह गया और सामाजिक यथार्थ की ओर बढ़ाव हुआ। प्रगतिवाद और प्रयोगवाद का विश्लेषण। अंत में भविष्य के लिए कुछ सुझाव।]

पद्मावत का पाठ और आईने-अकबरी—डा० माताप्रसाद गुप्त; आलोचना, ३।४ [पद्मावत और आईने-अकबरी के रचनाकाल में ५५ वर्ष का अंतर है। गुप्त-संपादित जायसी ग्रंथावली के अनेक शब्दों का स्पष्टीकरण आईने-अकबरी से होता है जिससे निष्कर्ष निकाला गया है कि उनका पाठ शुद्ध है। ३२ शब्दों के उद्धरण सहित उदाहरण दिए गए हैं।]

पृथ्वीराज रासो का विस्तार—अगरचंद नाहटा; आलोचना, ३।४ [रासो के एक लाख श्लोक का होने के उल्लेख भ्रांत। तीस हजार श्लोक से अधिक की कोई प्रति उपलब्ध नहीं हुई है।]

भारतीय अभिधान-क्षेत्र में आभूषणों का महत्त्व—डा० विद्याभूषण; हिंदी अनुशीलन, ७।१, २०११ [अनेक भारतीय मनुष्य-नामों का आभूषणों से संबंध बताते हुए लगभग पौने चार सौ मनुष्य-नामों की सूची दी है और उन्हें किसी न किसी आभूषण के आधार पर रखा गया बताया है।]

भारतीय संस्कृति : वैदिक धारा की तीन अवस्थाएँ—डा० मंगलदेव शास्त्री; 'कल्पना', जूलाई १९५४ [लेखक ने वैदिक धारा में यास्क के समय तक तीन अवस्थाएँ मानी हैं और इसके प्रमाण में निरुक्त १।२० का उद्धरण दिया है। इसके आशय के अनुसार पहली अवस्था या काल मंत्रकाल (मंत्रों का निर्माण-काल) है, दूसरा काल मंत्र-प्रवचन-काल है और तीसरा संहिता-काल। लेख में इन तीनों कालों की व्याख्या की गई है।]

मार्क्सवाद और साहित्य के स्थायी तत्त्व—हर्षनारायण; आलोचना, ३।४, १९५४ [मार्क्स बुर्जुआ साहित्य का अध्येता था, वह उसकी महत्ता को अस्वीकार नहीं करता था। वर्ग-व्यक्ति में भी मानव एकता के तत्त्व होते हैं अतः वह वर्ग-स्वार्थ से ऊपर उठकर उसका विरोध करता है। मार्क्स-ऐंगेल्स स्वयं बुर्जुआ-कुलोत्पन्न थे। अतीत की व्यवस्था में भी शाश्वत तत्त्व मानने के कारण उनका द्वंद्ववाद वर्गसापेक्ष तत्त्वों की उपेक्षा या विरोध नहीं कर सकता। मार्क्स-ऐंगेल्स नैतिकता का भी 'विकास' मानते हैं। सर्वहारा नैतिकता अतीत की वर्ग-नैतिकता के शाश्वत तत्त्वों से समन्वित है। मार्क्स स्थायी सांस्कृतिक तत्त्वों का विरोधी नहीं। आधुनिक मार्क्सवादी मार्क्स को ठीक समझकर उसके अनुसार आचरण नहीं करते।]

राजस्थानी फागु-काव्य की परंपरा और विशिष्टता—अगरचंद नाहटा, सम्मेलन-पत्रिका, ४०।१, २०११ [चौदहवीं शती में स्वतंत्र काव्य के रूप में फागु-काव्यों की परंपरा चली। जिनचंद सूरि फागु सबसे प्राचीन है। आगे लेख में चौदहवीं से अठारहवीं शती तक के फागु-काव्यों की सूची दी गई है।]

शिक्षा में स्वावलंबन क्यों कर?—श्री रामशरण उपाध्याय, 'पाटल', जूलाई १९५४ [गांधी जी द्वारा कल्पित बुनियादी शिक्षा स्वावलंबी क्यों नहीं हो रही है, इसके कारण बताते हुए उसको स्वावलंबी बनाने के उपाय सुझाए गए हैं।]

अंग्रेजी

ऑन वर्ल्ड इंटर्प्रिटेशंस—वाल्टर लायबेंथल, 'विश्वभारती कार्टर्ली', २०।१, १९५४ [पाश्चात्य देश प्रकृति से संघर्ष कर उसपर विजय प्राप्त करके मानव-उन्नति के लिये प्रयत्नशील हैं, मानवेतर प्राणियों के अधिकारों की वे परवाह नहीं करते। इसके मूल में क्राइस्ट का पृथ्वी पर ईश्वरीय राज्य स्थापित करने का उपदेश जान पड़ता है। चीनी लोग प्रकृति से संघर्ष न कर उसके साथ एक होकर अमर हो जाने

में विश्वास करते हैं। पूर्व और पश्चिम की संसार-दृष्टियों में अंतर मूलतः दार्शनिक है। पाश्चात्य संसार-कल्पना वस्तुपरक (ऑब्जेक्टिव) है, उसमें वस्तुओं से धर्म की नहीं, दृष्ट रूप की ही धारणा है। उनकी काल-कल्पना एक बढ़ती हुई रेखा की भाँति है और दृश्य संसार को वे क्षणभंगुर समझ गौण स्थान देते हैं। पार्थिव उन्नति को वे आत्मा से दूर करनेवाली मानते हैं। कर्म को फल की दृष्टि से नहीं, भावना की दृष्टि से महत्त्व देते हैं। ये दोनों दृष्टिकोण एक दूसरे से नितांत दूर हैं। भिन्न भिन्न मानववर्गों का जीवन उनकी विश्व-व्याख्याओं से ही प्रेरित और परिचालित होता है। पर व्याख्या-विशेष वर्ग-विशेष के लिये ही सत्य होती है। सृष्टि की व्याख्याएँ मानस होती हैं, भौतिक सत्य नहीं है। ये विभिन्न मानव-प्रकारों (टाइप्स) को बतलाती हैं। ऐसा मानकर लेखक ने अनेक प्रश्नों की उद्‌भावना की है जिनका समाधान नहीं किया है।]

ओरिजिन आव् नासिरुद्दीन खुसरो शाह—डा० ए० एल० श्रीवास्तव; इंडियन हिस्टारिकल कार्टर्ली, ३०।१, १९५४ [नासिरुद्दीन खुसरो शाह पहला भारतीय मुसलमान था जो दिल्ली के तख्त पर २७ अप्रैल से १३ सितंबर १३२० तक रहा। कुछ इतिहासलेखकों ने उसे मूलतः नीची जाति का हिंदू—ढेड, महार या भंगी—लिखा है तो कुछ ने पवाँर राजपूत। लेखक ने दोनों का खंडन कर उसे गुजराती गड़रिया बताया है। इस मत का भी खंडन किया है कि बादशाह होने पर उसने फिर से हिंदू धर्म ग्रहण किया था।]

कंकार्डेंस ऑव फ़ॉना इन द रामायन—शिवदास चौधरी; इं० हि० क्वा०, ३०।२, १९५४ [वाल्मीकीय रामायण के प्राणिनामों की सार्थानुक्रमणी (क्रमागत); सं० २३१ से २३७ तक (हनुमत्-हस्तिन्) सात नाम।]

गणेश ऐंड दि ऐंटिक्विटीज़ ऑव सम शैव मिथ्स—एन० डी० शर्मा; भारतीय विद्या, १५।१, १९५४ [गणेश वैदिक देवता नहीं हैं, परंतु गजानन-गणेश के रूप-विकास में वैदिक देवता रुद्र और बृहस्पति का बड़ा हाथ है। इस लेख में गणेश-कथा का वैदिक आधार ढूँढ़कर वैदिक गणपति के पौराणिक गणपति का रूप धारण करने के काल का निर्धारण करने का प्रयत्न किया गया है। वैदिक यज्ञों (वाजपेय, अश्वमेध) तथा गणेश-पूजा के रहस्य को बताते हुए कहा गया है कि वैष्णव और शैव पौराणिक कथाओं से ई० पू० ७००० से ई० सन् के प्रारंभ तक का व्यवस्थित कालक्रम दिया जा सकता है। दार्शनिक और कलात्मक अर्थों के

अतिरिक्त ये कथाएँ भारतीय संस्कृति के इतिहास के मुख्य युगों को भी सूचित करती हैं।]

द लैंग्वेज ऑव द बुद्धिस्ट संस्कृत टेक्सट्स—जॉन ब्राउ; स्कूल ऑव ओरियंटल ऐंड अफ्रिकन स्टडीज की पत्रिका, १६।२ [प्रो० फ्रैंकलिन एडगर्टन के 'बुद्धिस्ट हाइब्रिड संस्कृत ग्रामर ऐंड डिक्शनरी' तथा 'बुद्धिस्ट हाइब्रिड संस्कृत रीडर' की समीक्षा। बौद्ध संस्कृत ग्रंथों के यूरोपीय संपादकों ने उन ग्रंथों की भाषा को पाणिनीय संस्कृत से भिन्न पाकर उसमें बहुत संशोधन कर दिया है, जो अनुचित है। वह संस्कृत पाणिनि संस्कृत से भिन्न ही है। एडगर्टन का व्याकरण और कोश अध्येताओं और संपादकों के लिये उपयोगी। परंतु बहुत से शब्दों और रूपों में भेद लिपिकों की भूल से भी हुआ, इस ओर ध्यान नहीं दिया गया है। अशुद्ध वर्णांकन से भी रूप बदल गए हैं।]

मिस्टिसिज़्म, ए क्रिटिकल स्टडी—डा० के० सी० वरदाचारी; श्री वेंकटेश्वर ओ० इं० पत्रिका, १४।१ [रहस्यवाद (मिस्टिसिज्म) और उसके विविध रूपों का आलोचनात्मक अध्ययन।]

वाज़ देअर एनी कंफ्लिक्ट बिट्वीन द ब्राह्मणाज़ ऐंड द बुद्धिस्ट्स—वाइ० किशन; इं० हि० क्वा०, ३०।२, १९५४ [सामान्यतः सभी इतिहासविद् मानते हैं कि बौद्धमत की उत्पत्ति वैदिक यज्ञवाद एवं मानव-वैषम्य पर आधृत वर्ण-व्यवस्था के विरोध के फलस्वरूप हुई। संस्कृत साहित्य में बौद्ध-ब्राह्मण विरोध के एक आध ही उदाहरण प्राप्त होते हैं। इसके प्रतिकूल, प्रायः सभी उपलब्ध प्रमाण दोनों के बीच सद्भाव होने के पक्ष में हैं। बौद्ध धर्म के बड़े बड़े विद्वान् जन्मना ब्राह्मण थे, स्वेच्छा से उन्होंने बौद्ध धर्म ग्रहण किया था। अशोक, हर्ष आदि बौद्ध राजाओं के शासन में बौद्ध और ब्राह्मण दोनों का समान आदर था। बौद्धों का जो थोड़ा बहुत विरोध हुआ वह पूर्वमीमांसकों द्वारा। इसका कारण आर्थिक था, धार्मिक नहीं। बौद्धों द्वारा कर्म-कांड के खंडन का समाज पर जो प्रभाव पड़ता था उससे कर्मकांडियों की जीविका छिनती थी।]

समीक्षा

प्राचीन भारतीय परंपरा और इतिहास—ले० श्री रांगेय राघव, एम० ए०, पी-एच० डी०; प्रकाशक आत्माराम एंड सन्स दिल्ली; १९५३; पृ० सं० क-च + ५१८; मू० बारह रुपए।

प्राचीन भारतीय परंपरा और इतिहास इतने लंबे और धुँधले हैं कि उनमें आज भी अनेक अंतराल हैं। इसलिये उनकी पूर्ति के लिये बहुत से कुशल और सत्यान्वेषी इतिहासकारों की साधना अपेक्षित है। डा० रांगेय राघव का प्रस्तुत ग्रंथ इसी प्रकार का एक प्रयास है। भारत का महाभारत-पूर्व इतिहास इस समय तक ऊहापोह और विवाद का विषय है। पार्जिटर ने अपने 'ग्रंथ ऐंश्यंट इंडियन हिस्टॉरिकल ट्रेडिशन' में पुराणों, रामायण तथा महाभारत के आधार पर प्राचीन भारतीय ऐतिहासिक परंपरा का निरूपण किया। उसने वैदिक तथा प्राग्वैदिक परंपरा और इतिहास की ओर बहुत कम ध्यान दिया; इसी प्रकार उसने महाभारतोत्तर परंपरा और इतिहास को अपने ग्रंथ में स्थान नहीं दिया। साथ ही साथ पार्जिटर ने भाषाविज्ञान और पुरातत्त्व से उपलब्ध सामग्रियों का उपयोग भी कम किया। डा० रांगेय राघव ने बड़े साहस के साथ अपने ग्रंथ में इन अभावों की पूर्ति करने की चेष्टा की है।

संपूर्ण ग्रंथ दस अध्यायों में विभाजित है। प्रथम अध्याय प्रागैतिहासिक काल पर है जिसमें पाषाणकालीन सभ्यता का वर्णन है। लेखक के अनुसार इस काल में इस देश में हब्शी और निषाद रहते थे और सभ्यता की बर्बर अवस्था में थे। दूसरा अध्याय आग्नेय युग पर है। इसमें यह मान लिया गया है कि आग्नेय जाति उत्तर भारत, पंजाब, मध्यभारत और दक्षिण में रहती थी और इसने भारतीय भाषाओं को काफी प्रभावित किया। तीसरा अध्याय पूर्व प्राचीन काल अथवा द्रविड-युग है। लेखक के मत में यह निश्चित धारणा हो गई है कि एक समय द्रविड-भाषाभाषी समस्त उत्तरी भारत में फैले हुए थे—'बिलोचिस्तान से बंगाल तक।' और इनकी सभ्यता लौह-कालीन है। चौथा अध्याय किरात-देव-असुर युग है।

लेखक यह समझते हैं कि यह समय भारत में आर्यों के आने से पूर्व का है। पाँचवाँ अध्याय देव-असुर-किरात युग है। लेखक के विचार में यह युग भारत में आर्यों के आगमन और प्रसार का है। यह आदिम साम्यवाद का युग था। 'उस समाज में प्रत्येक स्त्री और प्रत्येक पुरुष एक दूसरे के पति पत्नी थे आदि···।' छठा अध्याय सत्ययुग अथवा पूर्व वैदिक काल है। यह आर्यों के उपनिवेश और विजयों का युग है। इस समय एक नए प्रकार का समाज प्रकट हुआ। वर्णों का प्रादुर्भाव इसी समय हुआ। यह उत्तर बर्बर युग था। व्यक्तिगत संपत्ति का जन्म भी इसी काल में दिखाई पड़ता है। ब्राह्मण समाज में श्रेष्ठ था; क्षत्रिय ब्राह्मण संघर्ष होने लगा; ब्राह्मण जीते। अंत में अनार्यों की स्थिति के कारण क्षत्रिय-ब्राह्मण मिलन हुआ। सातवाँ अध्याय त्रेता युग अथवा उत्तर वैदिक काल है। ब्राह्मणों ने क्षत्रियों से हार कर इसे त्रेता युग माना। अनार्यों पर आर्य भाषा तथा संस्कृति लादी जाने लगी। पूर्वी आर्यों पर अनार्य प्रभाव पड़ा। यहीं ब्राह्मण धर्म का विरोध प्रारंभ हुआ। व्रात्य इसके उदाहरण हैं। यज्ञ जटिल हो गए और ब्राह्मणों ने इसे क्षत्रियों के स्वार्थ की ढाल बना दिया। ब्राह्मण हारकर भी अधिक प्रभावशाली हो गया। इस समय आर्यों और राक्षसों के बीच घोर संघर्ष हुआ और द्रविड़ जातियों की सहायता से आर्य विजयी हुए। 'सीता का चरित्र भ्रष्ट नहीं हुआ यह साबित करना है।' यह बर्बर युग का अंत है, जो दास प्रथा के सुदृढ़ होने के साथ सभ्यता की ओर बढ़ रहा था। जो ब्राह्मण सत्य युग में चल रहा था, त्रेता में खड़ा था, द्वापर में बैठ गया, क्योंकि क्षत्रियों ने उसके आखिरी हौसले तक को दबा दिया था। अब वह धर्म-संचालक था और दान पर जीता था। शूद्र का समाजीकरण शुरू हो गया, यद्यपि वह त्रैवर्णिक नहीं था। इस समय प्रकृतिवादी और आत्मवादी परस्पर संघर्ष कर रहे थे।

ग्रंथ का आठवाँ अध्याय द्वापर युग (महाभारत-युद्ध काल) पर है। ग्रंथकार के मत में यह आंतरिक विरोधों का युग है। विषमता के कारण तात्कालिक समाज-व्यवस्था धनी-निर्धन के रूप में गृहयुद्ध में परिवर्तित हो लड़खड़ा रही थी। इसके बाद कलि प्रारंभ हुआ। ब्राह्मण दरिद्र हो गए थे। द्रोण को पानी में चावल घोलकर दूध की जगह अपने बच्चे को पिलाना पड़ा था। महाभारत के अंत में अहिंसा तथा राजविरोधी कई भावनाएँ उत्पन्न हुईं। वे तत्कालीन ब्राह्मण का यत्न नहीं, परवर्ती हैं। महाभारत युद्ध ने जब समाज को शिथिल कर दिया तब नाग,

आभीर आदि अनेक जातियो ने सिर उठाया। ब्राह्मणों ने इन्हें दबाने का भयानक यत्न किया। इसमें क्षत्रिय ने उसकी सहायता की। इस संघर्ष में ब्राह्मण-क्षत्रिय फिर कमजोर हो गए। अनार्यों और शूद्रों का बल बढ़ा। यहीं से कलि का प्रारंभ होता है। नवाँ अध्याय कलियुग है। धार्मिक और दार्शनिक आदान-प्रदान के फलस्वरूप ब्राह्मण वर्ग जब खतरा अनुभव करने लगा तभी से कलि का प्रारंभ हुआ। यहीं भारतीय इतिहास का मध्य प्राचीन काल समाप्त होता है। ब्राह्मण-स्वार्थ पर अवलंबित अधिकांश समाज जर्जर होता, चला जा रहा था। उधर उच्च वर्ग भी अपने को सुगठित और दृढ़ करते जा रहे थे। 'क्षत्रिय और ब्राह्मणों में इस समय चटक रही थी। क्षत्रिय ऋषभ जैन तीर्थंकर था। उसने विद्रोह खड़ा किया' (पृ० ३१०)। दास, शूद्र और स्त्रियों को कुछ अधिकार मिले। वर्णव्यवस्था के रूप में ब्राह्मणवर्ग स्वार्थों को कायम रखता था। वर्णव्यवस्था की आड़ में ब्राह्मण दिव्य हो चला। इस समय ब्राह्मण की कट्टरता टूट गई। समाज में दास-प्रथा लड़खड़ा गई। नया चिंतन घुस आया और अनार्य अब चढ़ने लगे। आर्य का चिंतन अपनी सरलता भूल चुका था। वह अपना आनंद खो बैठा था। अब उसके तथा अनार्य के जीवन में कुछ भेद नहीं रहा, दोनों के सामने समाज की कठिनाइयाँ थीं और दोनों के अभिमान चूर हो चुके थे।

ग्रंथ का अंतिम अथवा दशम अध्याय गण-नास्तिक युग है। लेखक के विचार में 'कलियुग का चरमोत्कर्ष ही गण-नास्तिक युग है।...ब्राह्मणों के विरुद्ध क्षत्रिय-वैश्यों ने मिलकर विद्रोह किया। क्षत्रिय साम्राज्य बनाने में लगे। वैश्यों का दूर दूर व्यापार चलता था। आर्थिक दृष्टि से अब वैश्य उठ खड़ा हुआ था। उसका दबाना बहुत कठिन था। शूद्र महाभारत के बाद ही उठ खड़ा हुआ था। यहाँ दास भी स्वतंत्र हो चुका है।' गण-नास्तिक युग के इतिहास को लिखते हुए ग्रंथकार ने लिखा है—'शाक्यों में बुद्ध का जन्म हुआ था। शाक्य शब्द 'शाक' से निकला है, ऐसा भी कुछ लोगों का विचार है। कोलिय जाति के विषय में प्रिजुलस्की का मत है कि संभवतः कोलिय एक कोल ऋषि तथा शाक्य-कन्या के वंशज थे। प्रिजुलस्की का अनुमान है कि शाक्य उत्तरी एशियाई मैदानों से आए थे और शाक्यों और कोलियों के जो संबंध हुए वे ही संभवतः कोल भाषा से अन्य भाषाओं के मिला देने की जड़ है, जिनके कारण आधुनिक मुंडा भाषा का विकास हुआ।'

ग्रंथ का परिचय देने में ग्रंथकार के जो विशिष्ट वक्तव्य हैं उन्हीं का उल्लेख किया गया है। ग्रंथकार ने अपनी भूमिका में लिखा है—'भारत का प्राचीन इतिहास बहुत जटिल है। उसे किसी वाद के आधार पर सिद्ध नहीं करना चाहिए।' पर संपूर्ण ग्रंथ को देखने से स्पष्ट है कि यह ग्रंथ पूर्वाग्रह और पूर्व-निश्चित मत के आधार पर लिखा गया है। सारे अतीत का चित्रण और विश्लेषण वर्ग-स्वार्थ और वर्ग-संघर्ष के सिद्धांत से किया गया है। इसके अनुसार भारतवर्ष का पूरा इतिहास जातियों और वर्गों के संघर्ष की रणभूमि के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। प्रस्तुत ग्रंथ में इतिहास की अन्य प्रबल प्रवृत्तियों की नितांत उपेक्षा की गई है, जैसे सहयोग, समवेदना, सहानुभूति, सामंजस्य, समन्वय, परोपकार, लोकमंगल की भावना आदि। मनुष्य अपने व्यक्तिगत और क्षुद्र स्वार्थ से ऊपर उठकर समाज और संसार के कल्याण की कभी कोई बात सोच सकता है, इस बात की कहीं गंध भी इस ग्रंथ में नहीं मिलती। तथ्यों का चुनाव अपने मतवाद को सिद्ध करने के लिये किया गया है और अपवादों और ऐतिहासिक अवशेषों के ऊपर सार्वजनीन सत्यों का महल खड़ा किया गया है। इस ग्रंथ के सत्य-संगीत का ध्रुव है आर्य-अनार्य, ब्राह्मण-अब्राह्मण, स्त्री-पुरुष तथा धर्म और अर्थ का संघर्ष; और वर्णन तो अंतरा अथवा प्रासंगिक है; बीच बीच में यौन संबंध के शैथिल्य और भोजन स्वातंत्र्य को साम्य और प्रगति का द्योतक मान लिया गया है। प्रत्येक अध्याय में घुमा-फिराकर इन्हीं विषयों की चर्चा और विवेचन है।

युरोपीय विद्वानों के विवरणों पर आधारित भारतीय भाषाशास्त्र और जातिशास्त्र को चरम सिद्धांत मानकर प्रथम चार अध्यायों में यह दिखाया गया है कि हब्शी, निषाध, आग्नेय आदि से लेकर आर्यों तक संपूर्ण जातियाँ बाहर से इस देश में आईं। इस प्रसंग में भारतीय साहित्य, इतिहास, परंपरा तथा भौगोलिक और जातीय परिस्थितियों की निरंतर उपेक्षा की गई है, संभवतः यह कल्पना कर कि पूरा भारतीय साहित्य और परंपरा ब्राह्मणों का षड्यंत्र, अतः अविचारणीय है। परंतु भारत की विभिन्न भौगोलिक परिस्थितियों और उनसे उत्पन्न जातिभेद तथा भाषाभेद की क्यों उपेक्षा की गई है, यह बात समझ में नहीं आती। भाषाशास्त्र तथा जातिशास्त्र के ऊपर अवलंबित ऐतिहासिक निष्कर्ष कितने संदिग्ध, अनिश्चित और लचर हैं, इस ओर लेखक का ध्यान बिलकुल नहीं गया है। केवल इनके साक्ष्य पर भारतीय साहित्य और परंपरा का त्याग अवांछनीय है। अगले

अध्यायों में भारत की राजनीति तथा समाजनीति का किस प्रकार विकास हुआ इसका विवेचन न कर केवल वर्ण-व्यवस्था की निंदा और आर्यों के प्रसार और और उपनिवेश की प्रवृत्तियों की भर्त्सना की गई है। ग्रंथकार ने यह समझने और समझाने का प्रयत्न नहीं किया है कि वर्ण-व्यवस्था ने किस प्रकार आदिम असंख्य जातियों और समुदायों को, जिनमें परस्पर कोई सेंद्रिय एकता नहीं थी, एक सूत्र और व्यवस्था में बाँधकर समाजीकरण का प्रयास किया था। वर्ण के विरोध में जातिवाद बारबार उभड़ आया है परंतु समाज-सुधारकों ने बारंबार वर्ण के मौलिक सिद्धांतों—गुण तथा कर्म—के आधार पर सामाजिक संघटन की चेष्टा की है। वर्ण परस्पर-विरोधी स्वार्थ के ऊपर अवलंबित वर्ग (क्लास) नहीं है। यह समष्टिगत परमार्थ, समुच्चय और समन्वय पर आधारित है। इसी प्रकार किसी सजीव जाति का प्रसार और उपनिवेशीकरण एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है। इसमें संघर्ष प्राथमिक है, अंतिम नहीं। संपर्क से जहाँ संघर्ष होता है वहाँ उससे कहीं अधिक सहयोग और समन्वय। भारतीय इतिहास में पिछली दो प्रवृत्तियाँ बहुत बलवती रही हैं, जिनकी ओर लेखक का ध्यान बिलकुल नहीं गया है।

दार्शनिक आंदोलनों के संबंध में अनावश्यक रूप से ब्राह्मण-क्षत्रिय संघर्ष की चर्चा की गई है। धर्म, दर्शन, साहित्य, शास्त्र, कला आदि पर सारे समाज का अधिकार था; प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति उनका उपयोग कर सकता था। इसमें पारस्परिक स्वार्थ और संघर्ष का कोई प्रश्न नहीं था। क्षत्रियों में सबसे बड़े दार्शनिक जनक और काशी के अजातशत्रु के ब्राह्मणों के प्रति भावना और उद्‌गार को दबाकर लेखक ने अपना मत पुष्ट करना चाहा है। इसी प्रकार गण-नास्तिक युग की व्याख्या भी विचित्र प्रकार से की गई है। लेखक के मन में आंतरिक अथवा स्वगत संघर्ष, द्वंद्व और विकास की कल्पना नहीं है, अतः उन्होंने प्रत्येक द्वंद्व और संघर्ष के लिये विजातीय तत्त्वों की उपस्थिति आवश्यक मानी है। गणतांत्रिक शासनप्रणाली तथा नास्तिक विचारधारा के लिये अनार्यों का प्रभाव और विजातीय जातियों का आगमन उन्होंने आवश्यक समझा है। इसी लिये शाक्यों की उत्पत्ति शक जाति से और कोलियों की कोल जाति से मानी है तथा मगध पूर्वी भारत में व्रात्यों का प्रभाव स्वीकार किया है। परंतु स्वयं शाक्य और कोलियों द्वारा स्वीकृत वंशावली और मगध में आर्य आधिपत्य का कहीं उल्लेख नहीं है। भगवान् बुद्ध और महावीर आर्य क्षत्रिय कुलों में उत्पन्न हुए थे। प्राचीन साम्राज्य तथा मीमांसक धर्म

के विरोध में प्रतिक्रिया मूलतः स्वगत और सजातीय थी; इसी प्रक्रिया में उत्तर भारत में गणराज्यों तथा बौद्ध और जैन धर्मों का उदय हुआ। आर्येतर और विदेशी इस प्रक्रिया से प्रभावित हुए, इसके जनक और प्रेरक नहीं थे।

इस ग्रंथ में युग-कल्पना की जो व्याख्या की गई है वह भी मौलिक है। ग्रंथकार के मत में युग-कल्पना का मापदंड ब्राह्मणों का प्रभाव और आधिपत्य है। ब्राह्मणों के घटते हुए प्रभाव से युगह्रास की कल्पना की गई है। सत्ययुग में ब्राह्मणों का प्रभाव सबसे अधिक था और कलियुग में सबसे कम। ऐतिहासिक दृष्टि से यह मत गलत है। सत्ययुग में बहुत से क्षत्रिय दर्शन, शास्त्र और कर्मकांड में ब्राह्मण के समकक्ष और बहुत से वैश्य और शूद्र धर्मनिष्ठा में उसके बराबर थे। कलियुग का कोई काल ऐसा नहीं पाया गया है जिसमें ब्राह्मण ने समाज और राष्ट्र में महत्त्वपूर्ण भाग न लिया हो। ग्रंथों में जहाँ भी कलियुग का वर्णन है वहाँ युग-ह्रास का आधार नैतिक और धार्मिक है, किसी वर्ग या वर्णविशेष की शक्ति का ह्रास नहीं।

सारे ग्रंथ को ध्यान से पढ़ने से ऐसा लगता है कि किसी मतवाद को सिद्ध करने और समाज में पारस्परिक रागद्वेष और संघर्ष उत्पन्न करने के लिये ही यह लिखा गया है और इसी उद्देश्य से भारत के अतीत को विकृत रूप में चित्रित किया गया है। इस प्रकार के प्रकाशनों से मतवाद-विशेष की चर्चा हो सकती है, किंतु सत्य का उद्घाटन नहीं। दूसरी बात जो इस ग्रंथ में खटकती है वह यह है कि इसका परिचय इतिहास के मूल स्रोतों से नहीं है; यह बहुत कुछ दूसरों के निष्कर्षों और मत-मतांतरों पर अवलंबित है। छापे की अशुद्धियाँ भी कम नहीं हैं।

—(डा०) राजबली पांडेय

अष्टछाप की वार्ता—संपादक श्री कंठमणि शास्त्री, संचालक विद्याविभाग, काँकरोली; पृष्ठ संख्या ६७२, मूल्य तीन रुपए।

वल्लभ-संप्रदाय में चौरासी वैष्णवों एवं दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ताएँ अत्यंत प्रसिद्ध हैं। प्रथम में महाप्रभु वल्लभाचार्य के चौरासी शिष्यों की वार्ताएँ हैं, द्वितीय में उनके पुत्र गोसाईं विट्ठलनाथ जी के दो सौ बावन शिष्यों की। प्रथम के अंत में सूरदास, परमानंददास, कुंभनदास और कृष्णदास की तथा द्वितीय के प्रारंभ में चत्रभुजदास, नंददास, छीत स्वामी, गोविंद स्वामी की वार्ताएँ हैं। ये आठ

वल्लभ-संप्रदाय के श्रेष्ठ कवि हैं। गोसाईं विट्ठलनाथ जी ने इन आठों को सम्मिलित करके 'अष्टछाप' की स्थापना की थी। इन आठ महाकवियों में से केवल सूरदास एवं नंददास को विशेष महत्त्व मिला। शेष प्रकाशन के अभाव में अंधकार में पड़े हुए थे। अब उनका भी धीरे धीरे उद्धार हो रहा है। गोविंददास एवं कुंभनदास की पदावलियाँ उक्त विद्याविभाग द्वारा प्रकाशित हो गई हैं, परमानंदसागर (२००० पद) का प्रकाशन हो रहा है।

इन आठों कवियों के जीवनचरित्र का परिष्कार उक्त वार्ताओं से ही संभव हो सका है। इन वार्ताओं का व्रजभाषा गद्य के सुंदर उदाहरण के रूप में भी अपना अलग महत्त्व है। इस प्रकार इन वार्ताओं के एक अत्यंत प्रामाणिक संस्करण की आवश्यकता थी, जिसे उक्त विद्याविभाग ने इस ग्रंथ द्वारा पूर्ण किया है।

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' का एक संस्करण सं० १९४० में मथुरा से हुआ था। १९६० में डाकोर से दोनों वार्ताओं के संस्करण निकले। सं० १९८६ में इनकी सहायता से डा० धीरेंद्र वर्मा ने 'अष्टछाप' नामक ग्रंथ प्रस्तुत किया, जिसका दूसरा संस्करण दस वर्ष बाद सं० १९९६ में प्रयाग से हुआ।

सं० १९९६ में काँकरोली विद्याविभाग ने 'प्राचीन वार्ता रहस्य' प्रथम भाग में 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में से प्रथम आठ वैष्णवों की वार्ताएँ प्रकाशित कीं। सं० १९९८ में इसके द्वितीय भाग में अष्टछापी कवियों की वार्ताएँ गुजराती विवेचन के साथ छपीं। सं० २००४ में इसका तीसरा भाग छपा, जिसमें '८४ वैष्णवन की वार्ता' के नवें से सोलहवें वैष्णव तक की वार्ताएँ हैं। प्रस्तुत ग्रंथ 'प्राचीन वार्ता रहस्य' द्वितीय भाग का संशोधित संस्करण है, जो संवत् २००९ में प्रकाशित हुआ है।

विद्याविभागीय वार्ताओं का संपादन श्री कंठमणि शास्त्री एवं द्वारकादास परिख करते थे। परिख जी ने सं० २००५ में अग्रवाल प्रेस, मथुरा से 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' पूरी छपाई और सं० २००६ में 'अष्टछाप की वार्ता' भी उन्होंने स्वतंत्र रूप से प्रकाशित की। इसी समय के आसपास उक्त प्रेस के संचालक श्री प्रभुदयाल मीतल ने 'अष्टछाप परिचय' नामक श्रेष्ठ ग्रंथ प्रकाशित कराया। अब विद्याविभाग द्वारा 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' भी तीन खंडों में प्रकाशित हो गई है।

प्रस्तुत ग्रंथ का मूल्यांकन तभी किया जा सकता है जब अष्टछाप संबंधी उक्त सभी ग्रंथ साथ रख लिए जायँ और उनका तुलनात्मक अध्ययन किया जाय। इस ग्रंथ का संपादन उक्त विद्याविभाग में सुरक्षित सं० १६९७ की प्रति से किया गया है। १७५२ की एक अन्य प्रति से भी सहायता ली गई है। मोटे टाइप में १६९७ वाली प्रति का पाठ दिया गया है। १७५२ वाली प्रति में बीच बीच में स्पष्टीकरण के लिये कुछ शब्द, वाक्य आदि बढ़ाए गए हैं। ये बढ़े अंश भी प्रस्तुत ग्रंथ में मोटे टाइप में ठीक स्थान पर कोष्ठबद्ध करके दे दिए गए हैं, जिससे सहज ही मूल और परिवर्द्धन का पता लग जाता है। दोनों प्रतियों की वार्ताओं के कथानक में जो न्यूनाधिकता है उसका निर्देश पादटिप्पणी में कर दिया गया है। १७५२ वाली प्रति में कुछ प्रसंग अधिक हैं जिन्हें 'वार्ता प्रसंग' शीर्षक से यथास्थान दे दिया गया है। ये सारे प्रसंग कोष्ठबद्ध हैं। मूल वार्ता में पदों के प्रथम चरण मात्र दिए गए हैं; प्रस्तुत ग्रंथ में सौकर्य की दृष्टि से पूर्ण पद दे दिए गए हैं।

मूल ग्रंथ गोसाईं गोकुलनाथ का लिखा हुआ है; परिवर्द्धित अंश जिसको 'भावप्रकाश' कहते हैं, गोसाईं हरिराम जी कृत है। यह परिवर्द्धन सं० १७३५ और १७५२ के बीच कभी हुआ। गोस्वामी हरिराम जी का समय सं० १६४५ से १७७२ तक माना जाता है।

इस ग्रंथ में प्रारंभ में सोलह पृष्ठों में 'ऐतिहासिक दृष्टि में अष्टछाप' शीर्षक से अष्टछापी कवियों के जीवनचरित्र की रूपरेखा दी गई है, तदनंतर अठारह पृष्ठों में 'वक्तव्य', फिर ६७२ पृष्ठों में मूल ग्रंथ है। अंत में सोलह पृष्ठों में पदानुक्रमणिका एवं शुद्धिपत्र है। यों ७१२ पृष्ठों के इस अमूल्य ग्रंथ का मूल्य तीन रुपया मात्र है, जो विद्याविभाग के अधिकारियों की साहित्य-निष्ठा का सूचक है। यह ग्रंथ प्रत्येक पुस्तकालय में संग्रहणीय है।

'क्वासि'—रचयिता श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'; प्रकाशक राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ २५ + ११६; मूल्य साढ़े तीन रुपए।

'क्वासि' के प्रारंभ में 'क्वासि की यह टेर मेरी' शीर्षक से पचीस पृष्ठों की एक भूमिका है। इसमें कवि ने पदार्थवाद और अध्यात्मवाद पर विचार किया है। पदार्थवादी इंद्रिय-संवेदन को यथार्थ का एकमात्र साक्षी मानता है, परंतु इंद्रिय-बोध के अतिरिक्त भी यथार्थ का अस्तित्व है, जिसके प्रमाण समय समय पर मिला

करते हैं। प्रगतिवादी आलोचक उन रचनाओं की प्रशंसा करता है जो इंद्रिय-बोध की सीमा के अंतर्गत आती हैं। वह उन रचनाओं की अवहेलना करता है जिनमें अध्यात्म की झलक रहती है। वह उसी साहित्य को श्रेष्ठ समझता है जो पक्षावलंबी हो, जिसमें एक विशेष जनसमूह की इच्छाओं, आकांक्षाओं आदि की अभिव्यक्ति हो। सारा का सारा भारतीय साहित्य उठाकर देखा जाय तो किसी अंश को भी पक्षावलंबी साहित्य नहीं कहा जा सकेगा। न तो वेद और उपनिषदों में ब्राह्मणों का पक्षपात है, न रामायण, महाभारत में क्षत्रियों का। सच तो यह है कि प्रत्येक राष्ट्र के साहित्य की अपनी विशेषता होती है। भारतीय साहित्य की विशेषता है—आत्मदर्शन, सत्-वरण, बंधन-मोक्ष। अंतरपट के पार झाँकने की प्रेरणा, अवगुंठन को खोलने की प्रणोदना, भारतीय आत्मानुसंधान के रूप में सहस्राब्दियों से हमारे देश के आँगन में मचलती-खेलती रही है। विज्ञान की जिज्ञासा बहिर्मुखी है, अध्यात्म की अंतर्मुखी। दोनों को एक कोष्ठक में बंद नहीं किया जा सकता। मानव को मुक्ति का संदेश देना ही भारतीय साहित्य का परम उद्देश्य है, अपने को सुसंस्कृत करने का प्रयत्न ही भारतीय और हिंदी साहित्य का ध्येय रहा है और है। संस्कृति है आत्मविजय, संस्कृति है राग-वशीकरण; संस्कृति है भाव-उदात्तीकरण। जो साहित्य मानव को इस ओर ले जाय, वही सत्साहित्य है। अतः प्रगतिवादी आलोचकों को चाहिए कि आध्यात्मिकता को भारतीय भूमि की विशेषता के रूप में स्वीकार करें, केवल इंद्रिय-बोध्य विषयों तक अपने को संकुचित न रखें।

'क्वासि' की अधिकांश कविताएँ उस परम प्रिय को पुकारती हैं—'कहाँ हो'। कुछ कविताएँ लौकिक प्रेम की हैं जिनकी संख्या बहुत कम है। कुछ का संबंध लौकिक जीवन से भी है, जैसे जेल-जीवन और कमला नेहरू की मृत्यु पर। सभी रचनाएँ गीत-पद्धति पर हैं।

'क्वासि' को भाव की दृष्टि से हिंदी काव्य में उच्च स्थान मिलना चाहिए; परंतु भाषा की दृष्टि से यह अनुकरणीय नहीं है। इसमें शब्दों का चुनाव कहीं-कहीं काव्योपयुक्त नहीं है। कठोर, अप्रयुक्त, श्रुतिकटु शब्दों से कवि को वैसा ही प्रेम दिखाई देता है जैसा ब्रजभाषा के शृंगारी कवि पजनेस को था। यथा—मृत्यु तौर्यत्रिक क्वणन (पृ० २१); त्व निःसृति (पृ० ३४); निक्वणता-उषा (पृ० ५९); अंक्य, वीण क्वाण इत्यादि। खड़ी बोली काव्य को दूषित करनेवाले कुछ और शब्दों

का प्रयोग यहाँ है--चँदुये (चँदोवा), उट्ठी, आपुन (अपना), हमरे, तुम्हरे, याँ, वाँ, यूँ, गोया, नगीच, ऐन बीच, टुक, नैंक, अवश (अवश्य) इत्यादि। अनेक वाक्य ऐसे हैं जो खड़ी बोली की दृष्टि से ठीक नहीं; यथा--

(१) हम जाने हैं, परम तापसी हमरे सजन सुजाना।

(२) क्या तुम सोचो हो निज मन में।

(३) देखकर यह हठ तुम्हारी।

(४) तुम मर जाओगे लाजन।

कहीं कहीं छंदों में मात्राएँ न्यूनाधिक हो गई हैं। ऐसे प्रयोग भी हैं जिनसे छंद का प्रवाह भंग हो जाता है। यथा, पृष्ठ ८५ पर--

स्वर प्रमोदन क्यों ? जब कि मैं मार्ग पर जा ही रही थी।

इसमें 'जब कि' को 'जबकि' पढ़ने पर ही गति आती है।

दो कविताएँ दुहराकर छप गई हैं--(१) मेरे मधुमय स्वप्न रँगीले, पृ० १६ तथा ११०; (२) प्राणों के पाहुन, पृ० २४ तथा ११४।

भूमिका में पृ० २३ पर 'परिमाण अंतर' को 'क्वालिटेटिव डिफरन्स' और 'गुणात्मक अंतर' को 'क्वांटिटेटिव डिफरन्स' कहा गया है--यह विपर्यय अनवधानता के कारण हुआ प्रतीत होता है।

भाषा के भ्रष्ट प्रयोगों को छोड़ दें, तो ग्रंथ संग्रहणीय है। भूमिका तो बहुत मूल्यवान् है।

—किशोरीलाल गुप्त

समीक्षार्थ प्राप्त

अमृत और विष--ले० श्री अरुण एम० ए०; प्रकाशक आत्माराम ऐंड संस, दिल्ली; सन् १९५४, मूल्य २।)

एक कदम आगे—ले० श्री मनरो लीफ; प्रकाशक राजकमल प्रकाशन, बंबई; सन् १९५४; मूल्य १।।।)

कुंभनदास—संपादक गो० व्रजभूषण शर्मा, श्री कंठमणि शास्त्री; प्रकाशक विद्याविभाग, कांकरोली; सन् १९५४; मू० ३)

गणितीय कोश --ले० डाक्टर व्रजमोहन; प्रकाशक चौखंभा संस्कृत सीरीज, बनारस; सन् १९५४; मू० ९)

छायापथ—ले० श्री एल० पी० गुप्त, बी० ए०, बी० एल०; प्रकाशक ग्रंथालय प्रकाशन; दरभंगा, सन् १९५४; मूल्य १॥)

जनता की सरकार—प्रकाशक राजस्थान सरकार, जयपुर। मू० ×

तेलुगु और उसका साहित्य—ले० श्री हनुमच्छास्त्री 'अयाचित'; राजकमल प्रकाशन, बंबई, मू० २)

दक्खिनी का पद्य और गद्य—ले० श्री श्रीराम शर्मा; प्रकाशक हिंदी प्रचार सभा, हैदराबाद; सन् १९५४; मू० १०॥)

द जेवेल ऑव हिंदी लिट्रेचर (अंग्रेजी)—ले० श्री एस० एन० शर्मा, एम० ए०, टी० डी०; प्रकाशक स्वयं लेखक, २७ जगजीवन मैनशन, दूसरी फनसवाड़ी बंबई २; सन् १९५४; मू० ४॥)

द्विवेदी पत्रावली—ले० श्री बैजनाथ सिंह विनोद, प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ काशी, सन् १९५४; मू० २॥)

नई कविता (अंक १, १९५४)—संपादक डा० जगदीश गुप्त, श्री रामस्वरूप चतुर्वेदी; प्रकाशक कविता प्रकाशन, प्रयाग; मू० २)

पिपासा—लेखक पं० सदानंद झा शास्त्री, साहित्याचार्य; प्रकाशक लेखक स्वयं, पो० धबौली, सहरसा; सं० २०१०; मू० १)

बँगला और उसका साहित्य—ले० श्री हंसकुमार तिवारी; प्रकाशक राजकमल प्रकाशन लि०, बंबई; मू० २)

बहता तिनका—ले० श्री कमल जोशी, प्रकाशक नवयुग प्रकाशन, दिल्ली; १९५४ ई०; मू० २)

बाबा बटेसरनाथ—ले० श्री नागार्जुन, प्रकाशक राजकमल प्रकाशन लि०, बंबई; १९५४; मू० १॥ॾ)

बाहर-भीतर—ले० डाक्टर देवराज; प्रकाशक राजकमल प्रकाशन लि०, बंबई, १९५४; मू० १॥ॾ)

बुद्धकालीन भारत का भौगोलिक परिचय—ले० श्री भिक्षु धर्मरक्षित, महाबोधि पुस्तक भंडार, सारनाथ; मू० ?

भारतीय आर्यभाषा और हिंदी—ले० डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या; प्रकाशक राजकमल प्रकाशन लि०, बंबई; सन् १९५४; मू० ६)

भाषावार प्रांत—ले० गांधी जी; प्रकाशक नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद; सन् १९५४; मू० ।)

मगध—ले० श्री बैजनाथ सिंह 'विनोद'; प्रकाशक श्री जैन संस्कृति संशोधन मंडल, बनारस; सन् १९५४; मू० १)

मानव की परख—ले० श्री देवीदयाल सेन; प्रकाशक आत्माराम ऐंड संस, दिल्ली; सन् १९५४; मू० ३)

मालवी और उसका साहित्य—ले० श्री श्याम परमार; प्रकाशक राजकमल प्रकाशन, बंबई; मू० २)

मेघदूत—ले० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, प्रकाशक राजकमल प्रकाशन, बंबई; मू० ४)

यूनानी चिकित्सासार—ले० श्री हकीम दलजीत सिंह; प्रकाशक वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०, कलकत्ता; सं० २०१०; मू० ४॥)

राजयोग के मूल तत्त्व—ले० श्री राजाराम सखाराम भागवत, अनु० श्री महेंद्रचंद्र शास्त्री; प्रकाशक आनंद प्रकाशन लि०, बनारस; सन् १९५४; मू० २॥)

शराबी—ले० पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र'; प्रकाशक आत्माराम ऐंड संस, दिल्ली; सन् १९५४; मू० ३॥)

शिक्षा का माध्यम—ले० गांधी जी; प्रकाशक नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद, १९५४ ई०; मू० ।)

श्री चौपतिया बेलपत्र—ले० श्री भागवत सहाय शुक्ल; प्रकाशक स्वयं लेखक, कन्हई पुरवा, हरदोई; मू० =)

संतुलन—ले० श्री प्रभाकर माचवे; प्रकाशक आत्माराम ऐंड संस, दिल्ली; सन् १९५४; मू० ४)

संयुक्त निकाय (भाग १)—अनु० श्री भिक्षु जगदीश काश्यप, भिक्षु धर्म रक्षित; प्रकाशक महाबोधि सभा, सारनाथ, बनारस, सन् १९५४ ई०; मू० ७)

सहकारी संस्था पुस्तिका—ले० श्री चौधरी शुकदेवसिंह वकील; प्रकाशक कुमारी अंशुप्रभा सिंह, बेनियाबाग बनारस; सन् १९५१; मू० २॥)

सामान्य मनोविज्ञान—ले० श्री रामप्रसाद पांडेय एम० ए०; प्रकाशक श्रीमती सिद्धेश्वरी देवी, मुजफ्फरपुर; सन् १९५४; मू० ५।)

सिद्धार्थ—ले० श्री हरमन हेस, अनु० श्री महावीर अधिकारी; प्रकाशक आत्माराम ऐंड संस, दिल्ली; सन् १९५४, मू० ३)

स्वप्न-सिद्धि की खोज में—ले० श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, अनु० श्री प्रवासी लाल वर्मा; प्रकाशक राजकमल प्रकाशन, बंबई; मू० ५)

हिंदी आलोचना की अर्वाचीन प्रवृत्तियाँ—लेख-संग्रह, भूमिका लेखक डा० देवराज; प्रकाशक राजकमल प्रकाशन, बंबई; मू० २)

हिंदी निबंधकार—ले० श्री जयनाथ 'नलिन' एम० ए०, प्रकाशक आत्माराम ऐंड संस, दिल्ली, सन् १९५४ ई०; मू० ६)

हिंदू विवाह में कन्यादान का स्थान—ले० श्री संपूर्णानंद; प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ, काशी; सन् १९५४; मू० १)

हिस्ट्री ऑव इंडियन फार्मेसी (अंग्रेजी)—ले० श्री गोरखप्रसाद श्रीवास्तव, एम० फार्म०; प्रकाशक पिंडार्स लि०, ७ लोअर राउडन स्ट्रीट कलकत्ता २०; द्वि० सं० १९५४ ई०; मूल्य १२॥)

विविध

भारतीय पुरातत्त्व विवरण

स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् भारतीय पुरातत्त्व विभाग की व्यवस्था में बहुत कुछ परिवर्तन हुआ है। उसकी वार्षिक रिपोर्टें कुछ वर्षों से बंद हो गई थीं। वे अब फिर निकलने लगी हैं और प्रथम नई रिपोर्ट 'इंडियन आर्क्यालाजी--१९५३-५४ (ए रिव्यू)' नाम से निकली है। इसमें सन् ५३-५४ की पुरातत्त्व विभाग की शोध का दिग्दर्शन कराया गया है। एक दूसरी पुस्तक 'एंशंट इंडिया' भी समय समय पर बहुधा प्रति छः मास में निकला करती है जिसमें भी पुरातत्त्व की खोज का वर्णन रहता है, पर इस वार्षिक रिपोर्ट में शोध के सिवा और कार्यों का भी वर्णन रहता है। इस नई वार्षिक रिपोर्ट का हम स्वागत करते हैं और इसकी मुख्य मुख्य बातों को संक्षेप में यहाँ प्रस्तुत करते हैं।

खुदाई

वीरभानपुर, जिला बर्दवान—यहाँ छोटे पत्थरों के (मायक्रालिथिक) संभवतः दस हजार वर्ष पुराने औजार--जैसे छुरे, शरशिर, छेद करने की सुतारी, खुरचने के औजार इत्यादि—मिले हैं।

रूपड़, जिला अंबाला—हड़प्पा सभ्यता (ई० पू० १५००) से ऐतिहासिक काल के प्रारंभ (बुद्ध-काल) तक के दीर्घ काल के अंधकार की जो समस्या थी वह यहाँ प्राप्त वस्तुओं से कुछ सुलझती दिखाई देती है। रूपड़ की खुदाई में दोनों को मिलानेवाले स्तर निकले हैं। रूपड़ में हड़प्पा-सभ्यतावाले आदि में कदाचित् ५०० वर्ष तक रहे। उनकी सभ्यता की वस्तुएँ मिली हैं जिससे सिद्ध होता है कि बलूचिस्तान से सतलज तक एक ही सभ्यता थी। इन वस्तुओं में एक मुहर या ठप्पा ('सील' हड़प्पा के अज्ञात अक्षरों का भी है।

हड़प्पा सभ्यता कैसे नष्ट हुई यह न जान पड़ा, परंतु पाँच सौ वर्ष के पश्चात् लगभग १००० ई० पू० में एक दूसरे प्रकार की जाति रूपड़ में आ बसी जो तीन सौ वर्षों तक रही। इसका विशेष हाल मालूम नहीं हो सका है पर इसी जाति के लोग

राजस्थान, पंजाब और उत्तरप्रदेश के स्थानों में बसे थे। ई० पू० ५०० से ऐतिहासिक समय आरंभ हो जाता है। इस समय का एक ठप्पा मौर्यकालीन ब्राह्मी अक्षरों का मिला है जिसमें "भदपलकश" नाम लिखा है।

रंगपुर, जिला झालावाड़ (सौराष्ट्र)—लींबड़ी तहसील के दक्षिण बीस मील पर रंगपुर में खुदाई से जान पड़ा कि यहाँ भी हड़प्पा सभ्यता का संसर्ग था।

महेश्वर, जिला नीमाड़ (म० प्र०)—यहाँ खुदाई पाषाण काल के पूर्व तक पहुँची है।

लंघनाज, जिला अहमदाबाद; यरुकी, जिला रायचूर; राजगिर, जिला पटना—इन स्थानों में खुदाई जारी है, परंतु विशेष महत्त्व की बातें प्रकट नहीं हुई हैं।

कौशांबी, जिला इलाहाबाद—ई० सन् के पूर्व की तथा आरंभिक शताब्दियों का यह प्रसिद्ध स्थान है। यहाँ कई वर्षों से खुदाई जारी है। इस वर्ष की खुदाई में घोषिताराम मठ के स्थान पर विशेष ध्यान दिया गया है। इस मठ की सीमा बहुत विस्तृत पाई गई है। कनिष्क के समय की प्रसिद्ध भिक्षुणी बुद्धमित्रा का शिलालेख भी इस खुदाई में मिला है।

कुमरहार, जिला पटना (पूर्व का पाटलिपुत्र)—यहाँ १९१२ ई० में डाक्टर स्पूनर ने एक बड़े स्तंभों वाला कमरा खोद निकाला था। यहाँ के प्रधान स्थानों के बनने का समय शुंग-काल से अर्थात् ई० पू० १५० के लगभग से आरंभ होता है और विभिन्न निर्माणों का समय लगभग ६०० ई० तक है। आरंभिक काल में यहाँ एक आरोग्य-विहार भी था।

जगतग्राम, जिला देहरादून—देहरादून से तीस मील उत्तर इस स्थान में ई० तीसरी शताब्दी में शीलवर्मन नाम के राजा ने चार अश्वमेध यज्ञ किए थे। खुदाई में उनके स्थल मिले हैं। चौथे यज्ञ के स्थल में ई० तीसरी शताब्दी के ब्राह्मी अक्षरों में लिखी हुई ईंटें मिली हैं जिनसे प्रकट होता है कि इस स्थल पर राजा ने अपने चतुर्थ अश्वमेध यज्ञ की 'चिति' बनाकर छोड़ी थी। दूसरे स्थल पर ईंटों पर अनुष्टुप् श्लोकों में इस राजा के वर्षगण्य, युगेश्वर, युगेश और युगशैलेश विरुद लिखे हैं। अभी तृतीय स्थल की पूरी खुदाई नहीं हो पाई है, पर राजा के नाम की ईंटें मिली हैं। यह राजा "पोणषष्ठ" अर्थात् पोण वंश का छठा राजा था। इसका समय २५०-३०० ई० जान पड़ता है। ऐसा विदित होता है कि इसने और राजाओं की सहायता से कुशान शक्ति का उत्तर भारत में संहार किया था।

शालिहुंडम, जिला श्री काकुलम् (आंध्र)—यहाँ वंशधरा नदी के किनारे इस स्थान के निकट कलिंगपट्टनम् बंदरगाह से पाँच मील की दूरी पर एक छोटा सा पहाड़ है जहाँ बौद्धकालीन भग्नावशेष हैं। पहले की खुदाई में यहाँ एक बड़ा स्तूप, एक गोल चैत्य और दो बहुकोण मंदिर थे जिनमें से एक में बुद्ध की मूर्ति और दूसरे में मानता मानी हुई चढोतरी थी। एक जलपात्र पर लिखे लेख से जान पड़ा कि यह स्थान ई० द्वितीय शताब्दी का था और इसका नाम 'कट्टहर आराम' (कष्टहर आराम ?) था। यहाँ १९५४ ई० की खुदाई में शिलालेख, मिट्टी के बरतनों के बहुत से टुकड़े, एक सुनहले फूलवाला कड़ी मिट्टी का बरतन जिसमें एक अस्थिखंड था, लिखे हुए शंख, सिक्के, ठप्पे इत्यादि वस्तुएँ मिली हैं। चार विहार जिनमें से एक का नाम महाविहार था, चैत्यगृह, रसोईघर, भंडारघर, भोजनशाला, प्रार्थनाशाला, मानता के स्तूप इत्यादि भी वस्तुएँ मिली हैं। लेखों से पता चलता है कि शालिहुंडम का पहले का नाम शालिपेतक था और पहाड़ का नाम महा-उग-पव्वत जिसपर महाविहार था। प्राप्त लेख ई० पू० की दूसरी शती से ई० छटी शती तक के हैं। इस स्थान के विशेष भाग ई० पहली और तीसरी शती में सातवाहन राजाओं के समय में बने थे।

बड़नगर, जिला मेहसना (बंबई); सीरपुर जिला रायपुर; भीनमाल-जोधपुर; मम्मा खाँ, श्रीनगर—इन स्थानों में भी खुदाई हुई है किंतु कोई महत्त्वपूर्ण वस्तुएँ नहीं मिलीं।

शिलालेख

पट्टीकोंडा, जिला करनूल (आंध्र) के पास राजुल मंडागिरि में एक चट्टान पर अशोक का शासन पाया गया है जो वहाँ से बीस मील दूर स्थित येरीगुडी के शिलालेख के समान ही है।

बहुत सी पुरानी मुद्राएँ, पुराने शिलालेख वा ताम्रपत्र पाए गए हैं जिनका विशेष वर्णन यहाँ स्थानाभाव के कारण संभव नहीं।

खोज की नई प्राप्तियों में बहुत से स्थान पत्थरों के औजारवाले पाए गए। इनसे अधिक महत्त्व के और कोई स्थान नहीं मिले, न कोई वस्तुएँ या लेख ही विशेष महत्त्व के पाए गए हैं।

—पंड्या बैजनाथ

सभा की प्रगति

आर्यभाषा पुस्तकालय

गत आश्विन से मार्गशीर्ष २०११ तक पुस्तकालय ६८ दिन तथा वाचनालय ७८½ दिन खुला रहा। पुस्तकालय में बैठकर पढ़नेवाले पाठकों की दैनिक संख्या लगभग २६० रही। उक्त अवधि में अब तक भेंट में ४१, समीक्षार्थ ४२ तथा परिवर्तन में ३ पुस्तकें प्राप्त हुईं। ५५९-)। की हिंदी की पुस्तकें तथा दो हजार रुपए के अँगरेजी संस्कृत आदि के अलभ्य आकर ग्रंथ खरीदे गए। पुस्तकालय के समस्त सहायकों की संख्या ४६९ है। अनुसंधान-कार्य के लिये पुस्तकालय की सहायता लेने वाले अध्येताओं की संख्या २६ रही। पुस्तकालय की ६०० पुस्तकों की जिल्दबंदी हुई। पुस्तकालय की सुरक्षा के लिये बाहरी दरवाजों में जाली लगवाई गई। बिहार सरकार द्वारा पुस्तकालय के लिये जो छः हजार रुपए का अनुदान प्राप्त हुआ था उससे अलमारियाँ तैयार कराई गईं जिससे पुस्तकालय के एक अंग की पूर्ति हो जायगी।

पुस्तकालय के पूर्ण विकास के लिये एक योजना बनाई गई है जिसे कार्यान्वित करने के लिये प्रयत्न किया जा रहा है। पुस्तकालय के विस्तार के साथ-साथ स्थान का संकोच उसमें अधिकाधिक बाधक सिद्ध हो रहा है अतः उपयुक्त साजसज्जा से युक्त एक नवीन भवन का निर्माण अत्यंत आवश्यक है। इस भवन का मानचित्र बन गया है और इसके व्यय का अनुमान लगभग सवा लाख रुपया है। इस भवन में एक ऐसा व्याख्यान-मंडप रहेगा जिसमें तीन-चार सहस्र व्यक्ति बैठ सकें। सामान्य साजसज्जा के अतिरिक्त इस मंडप में आधुनिक युग के अनुरूप आवश्यक यंत्र आदि भी रहना आवश्यक है जिसमें कम से कम एक लाख रुपया व्यय होगा। पुस्तकालय का अपना स्टुडियो तथा प्रयोगशाला भी होनी चाहिए जिसमें लगभग पचास हजार के व्यय का अनुमान है। साहित्यिक शोध करनेवाले छात्रों के लिये एक उपयुक्त अनुशीलन कक्ष का संघटन अत्यावश्यक है जिसमें विविध भाषाओं के आवश्यक आकर ग्रंथों का संग्रह हो। इसमें पचास सहस्र व्यय का अनुमान है। पुस्तकालय की आर्थिक स्थिति को दृढ़ बनाने के लिये एक स्थायी

कोष की स्थापना अनिवार्य है, जिसकी वार्षिक आय से इसके कार्य सुचारु रूप से चलते रहें। इसके लिये पाँच लाख रुपयों की आवश्यकता है। हमें आशा है कि जनता तथा सरकारों की सहायता एवं सहयोग से हम इस योजना को शीघ्र कार्यान्वित कर सकेंगे।

हस्तलिखित ग्रंथों की खोज

खोज के पिछले त्रैवार्षिक विवरणों को अँगरेजी से हिंदी में रूपांतरित करके छापने का कार्य पूर्ववत् चल रहा है। सन् १९३२–३४ की खोज का त्रैवार्षिक विवरण छपकर तैयार हो गया है। सन् १९३५–३७ की खोज का त्रैवार्षिक विवरण अँगरेजी से हिंदी में रूपांतरित करके छपने को दे दिया गया है।

साहित्य विभाग

'आकर ग्रंथमाला' के अंतर्गत प्रथम प्रकाशित होनेवाली पुस्तक 'भिखारीदास ग्रंथावली' का छपना प्रारंभ हो गया है। इसके बाद अन्य निर्णीत ग्रंथ 'गंग', 'कबीर', 'नूरमुहम्मद', 'आनंद रघुनंदन', 'पदमाकर', 'दादूदयाल', 'परमालरासो', 'नंददास' आदि भी शीघ्र ही संपादित होकर प्रकाशित होंगे।

'बिड़ला ग्रंथमाला' के अंतर्गत प्रथम प्रकाशित होनेवाले ग्रंथ 'रामानंद ग्रंथावली' का भी छपना प्रारंभ हो गया है, जो शीघ्र ही पूर्ण होगा। इसके बाद अन्य ग्रंथ रज्जब, गोरख से भिन्न नाथ-सिद्धों की बानी, बौद्धगान और दूहा तथा राजस्थानी गद्य का भी संपादन शीघ्र ही समाप्त होगा।

इसके अतिरिक्त ढोला-मारू रा दूहा तथा कबीर-ग्रंथावली का पुनर्मुद्रण प्रायः समाप्त हो चुका है। रस-गंगाधर का हिंदी रूपांतर भी छपकर समाप्तप्राय है। अन्य ग्रंथों में 'अनन्य-ग्रंथावली' का संपादन श्री अंबाप्रसाद श्रीवास्तव कर रहे हैं। इसके प्रकाशन की व्यवस्था हो चुकी है।

हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास

यह इतिहास १७ भागों में विभक्त है, जिनमें से अब तक १५ भागों के संपादक नियुक्त हो चुके हैं।

निम्नलिखित भागों के संपादकों ने अपने अपने भाग की रूपरेखा कार्यालय में भेज दी है।

प्रथम भाग—संपादक डा० राजबली पांडेय
चतुर्थ भाग— ,, श्री परशुराम चतुर्वेदी

पंचम भाग—संपादक श्री चंद्रबली पांडेय
षष्ठ भाग— „ डा० नगेंद्र
नवम भाग— „ डा० रामकुमार वर्मा
दशम भाग— „ श्री नंददुलारे वाजपेयी
त्रयोदश भाग—„ श्री लक्ष्मीनारायण सिंह 'सुधांशु'
चतुर्दश भाग— „ डा० विश्वनाथ प्रसाद

विभिन्न भागों का लेखन-कार्य निम्नलिखित विद्वान् लेखकों ने आरंभ कर दिया है। शेष शीघ्र ही अपना कार्य प्रारंभ कर देंगे।

प्रथम भाग

१—डा० राजबली पांडेय
२—श्री पद्मनारायण आचार्य
३—श्री बलदेव उपाध्याय
४—डा० भगवतशरण उपाध्याय

चतुर्थ भाग

१—श्री परशुराम चतुर्वेदी
२—डा० रामखेलावन पांडेय
३—श्री रामपूजन तिवारी
४—श्री पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव
५—श्री उदयशंकर शास्त्री
६—श्रीमती सरला शुक्ला
७—श्री भोलानाथ तिवारी
८—श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी

पंचम भाग

१—श्री चंद्रबली पांडेय
२—डा० मोतीचंद्र
३—डा० मुंशीराम
४—डा० दशरथ ओझा
५—डा० भगीरथ मिश्र

(कुछ विद्वानों से पत्रव्यवहार हो रहा है।)

षष्ठ भाग

१—डा० नगेंद्र
२—डा० सावित्री सिन्हा
३—डा० उदयभानु सिंह
४—डा० ओमप्रकाश
५—श्री विजयेंद्र स्नातक
६—डा० छैलबिहारी गुप्त

त्रयोदश भाग

१—श्री लक्ष्मीनारायण सिंह 'सुधांशु'
२—श्री हंसकुमार तिवारी
३—डा० माहेश्वरी सिंह 'महेश'
४—श्री नलिनविलोचन शर्मा

चतुर्दश भाग

१—डा० रामअवध द्विवेदी
६—श्री जगदीशचंद्र माथुर

२—डा० नगेंद्र
३—डा० केसरीनारायण शुक्ल
४—डा० धर्मवीर भारती
५—श्री नंददुलारे वाजपेयी
७—श्री प्रकाशचंद्र गुप्त
८—श्री विजयशंकर मल्ल
६—श्री शिवनाथ जी
१०—श्री शंभूनाथ सिंह
११—श्री त्रिलोचन शास्त्री

हिंदी शब्दसागर

शब्दसागर के लिये शब्द-संग्रह का कार्य नियमित रूप से हो रहा है। एक लेखक के द्वारा शब्दसागर की पुरानी स्लिपों की प्रतिलिपि भी की जा रही है। अब तक लगभग ८०० स्लिपों की प्रतिलिपि की जा चुकी है। गत १ नवंबर से निरीक्षक संपादक के रूप में डा० हेमचंद्र जोशी की नियुक्ति की गई है। २५ सितंबर १९५४ की कोश उपसमिति के निश्चयानुसार शब्दसागर के प्रतिमानित प्रारूप की रूपरेखा निश्चित होकर कोश-कार्य में रुचि रखनेवाले विद्वानों तथा संपादक-मंडल एवं परामर्श-मंडल के सदस्यों के पास भेजी जा चुकी है। संपादक-मंडल ने शब्दसागर के लिये जो जो बातें आवश्यक समझी हैं, और जिस नवीन पद्धति का समावेश करना चाहा है उसी के अनुसार निरीक्षक संपादक एवं सहायक संपादक कार्य कर रहे हैं। पृथ्वीराज रासो से तथा आधुनिक समाचारपत्रों से लगभग दो हजार नए शब्दों का संग्रह हो चुका है। कोश विभाग के लिये कई महत्त्वपूर्ण कोश भी क्रय किए गए हैं। कुछ अन्य उपयोगी सामग्री उत्तरप्रदेशीय सरकार की कृपा से सरकारी पुस्तकालयों से उधार प्राप्त हुई है।

हिंदी विश्वकोश

भारत सरकार के शिक्षा-मंत्रालय के आग्रह पर सभा ने हिंदी विश्वकोश की योजना मंत्रालय के संमुख उपस्थित कर दी है। उस योजना पर विचार करने के लिये शिक्षा-मंत्रालय एक समिति गठित करनेवाला है जिसके लिये सभा से दो प्रतिनिधियों की माँग की गई थी। सभा ने अपनी ओर से माननीय डा० संपूर्णानंद तथा डा० राजबली पांडेय (सभा के प्रधान मंत्री) को अपना प्रतिनिधि नियुक्त किया है एवं इसकी सूचना शिक्षा-मंत्रालय को दे दी गई है।

राजबली पांडेय
प्रधान मंत्री

सभा के नवीन प्रकाशन

चंदेल और उनका राजत्व-काल

ले०—श्री केशवचंद्र मिश्र

भारतीय इतिहास में विंध्य-मेखला और उसके जंगली प्रदेशों ने इतिहास के कई विकट कालों में कुछ ऐसी शक्तियों को समय-समय पर जन्म दिया है जिन्होंने अपने काल के नेतृत्व में यथेष्ट योग दिया था। हर्षवर्धन के समय से भारत का उत्तर और दक्षिण के रूप में जो राजनीतिक बँटवारा हुआ था उसके कारण मध्य भारत, ... तथा राजनीतिक उथल-पु... संधि और संतुलन स्थापित... शक्ति के इतिहास का उल्ले... करती है। लेखक ने बड़ी ... रेखा उपस्थित किया है। यह... ादेय और नवीन सामग्री प्र... षय पर इतनी खोजपू... ने उसकी पूर्ति कर दी... की टिकाऊ जिल्दद...

... द्वितीय में कविता... संकलन है। इस भा... ओं के लिये प्रस्तुत ...

...नके काव्य में इनका... तथा रस, अलंकार... ० आचार्य केशवप्रस... रिशिष्ट हैं। पृ० सं०

हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों के त्रैवार्षिक खोज-विवरण

उत्तरप्रदेशीय सरकार की सहायता से सभा द्वारा जो हस्तलिखित पुस्तकों की खोज का कार्य होता है उसके सन् १९०० से १९२५ तक के विवरण उक्त सरकार द्वारा अंग्रेजी में छापे गए। १९२६ से ... तक के विवरण अब तक अमुद्रित पड़े थे। अब सरकार की सहायता एवं अनुमति से सभा ने उन्हें गत वर्ष से हिंदी में छापना आरंभ किया है। निम्नलिखित विवरण छपकर तैयार हो चुके हैं—

(१) सन् १९२६–२८; संपादक डा० हीरालाल; रायल अठपेजी पृष्ठ सं० ८४८; सजिल्द; मू० २१)

(२) सन् १९२९-३१ ; संपादक डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल ; रा० अठ० पृष्ठ-सं० ७०६ ; सजिल्द; मू० १५)

(३) सन् १९३२–३४; संपादक डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल ; रा० अठ० पृष्ठ-सं० ४५२; सजिल्द; मूल्य ११)

तुलसी की जीवन-भूमि

ले०—श्री चंद्रबली पांडेय

गोस्वामी तुलसीदास जी के जन्मस्थान तथा जीवनवृत्त के संबंध में कई भिन्न भिन्न मत साहित्य-समाज में प्रचलित हैं। कोई उन्हें काशी का, कोई राजापुर का और कोई सूकरखेत का कहता है। प्रस्तुत पुस्तक में विद्वान् लेखक ने तर्क और अध्ययन की कड़ी कसौटी पर रखकर उन समस्त मतों का विवेचन करते हुए, स्वयं गोस्वामी जी की रचनाओं से, यह निष्कर्ष निकाला है कि वे कहाँ के थे और उनका जीवनवृत्त क्या था। लेखक ने गोस्वामी जी के समसामयिक संतों और कवियों की रचनाओं की, सरकारी कागज-पत्रों की, तथा ऐसी समस्त अन्यान्य सामग्री की छानबीन अत्यंत बारीकी से की है और उन्हीं के आधार पर अपना पक्ष उपस्थित किया है। संक्षेप में, विद्वान् लेखक की दृष्टि बड़ी पैनी और सूक्ष्म तथा सिद्धांत सर्वथा मौलिक हैं। तुलसी का अध्ययन करनेवालों के लिये इस ग्रंथ का परिशीलन आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। बढ़िया ऐंटिक कागज पर छपी ३०० से अधिक पृष्ठों की पक्की जिल्द की इस पुस्तक का मूल्य केवल ३) है।

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

मुद्रक—महताब राय, नागरीप्रचारिणी सभा, नागरी मुद्रण, काशी।